

१

देश-दृष्टि

सफ़र गांधी से गांधी तक

कभी आईस्टीन ने कहा था— “एक समय ऐसा आयेगा जब लोग यह विश्वास भी नहीं करेंगे कि गांधी जैसा कोई व्यक्ति कभी इस धरा पर विचरण किया करता था। ऐसा लगता है कि गांधी के जाने के ४० साल बाद ही वह स्थिति आ गई है।

जब दक्षिण अफ्रीका से भारत में आकर गांधी ने कांग्रेस की और देश को राजनीति की बागडोर संभाली थी, तब भी उसका विरोध कम नहीं हुआ था। सत्य और अहिंसा पर आधारित सत्याग्रह का जो हथियार गांधी ने देश को दिया था वह इतना अपूर्व और विचित्र था कि सहसा उसकी सफलता पर किसी को विश्वास नहीं होता। ब्रिटिश साम्राज्य जैसी संसार की सर्व-महान् साम्राज्यवादी शक्ति से लोहा लेने के लिये निहत्थे भारतवासी किसी प्रकार समर्थ हो सकेंगे यह किसको विश्वास होता? परन्तु गांधी गांधी था और था अपनी धुन का धनी। उसका दुबला पतला व्यक्तित्व उसकी आत्मा के ओज से इतना देदीप्यमान था कि धीरे-धीरे राजनीति के धुरन्धर से धुरन्धर महारथी उसके पीछे चलने में अपना अहोभाग्य समझने लगे। चाहे उस समय के बुद्धिजीवियों ने गांधी के समस्त क्रियाकलाप को सनकों से भरा हुआ समझा हो, परन्तु व्यवहार में प्रच्छन्न रूप से वे बुद्धिजीवी भी गांधी के सहयोगी ही बनते दिखाई दिये।

सन् १९१० में गांधी ने ‘हिन्द स्वराज्य’ पुस्तक लिखी और उसमें ग्रामोन्मुख सभ्यता का प्रतिपादन किया, तब अंग्रेजी पढ़े लिखे भद्र लोग उन विचारों का मज़ाक उड़ाने से बाज़ नहीं आये। वह तो सरकार ने तभी उस पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया, अन्यथा पश्चिमी सभ्यता के दीवानों की और अधिक कटु आलोचना का उसे शिकार होना पड़ता।

सन् १९२१ में गांधी द्वारा राजनीति की बागडोर संभालने पर स्वयं दिश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था— “असहयोग आन्दोलन के माध्यम से भारत और पश्चिम के बीच में एक ‘चीन की दीवार’ खड़ी की जा रही है। यह भारत के लिये आत्मिक खुदकुशी होगी” उसी समय के आसपास कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष और

बाद में वायसराय की एकजीक्यूटिव कौन्सिल के सदस्य सर शंकरन नायर ने गांधी को अराजकता का अग्रदूत बताते हुए अपनी एक पुस्तक में सिद्ध किया था कि गांधी के विचार राज्य और समाज की बुनियादों को ही तोड़ डालेंगे। गांधी को अपना गुरु मानने वाले, उसके अभिन्न सहयोगी और बाद में उसके एक मात्र वारिस पं० जवाहरलाल नेहरू ने महात्मा गांधी को 'एक मध्यकालीन कैथोलिक सन्त' बताते हुए कहा था— "हम परिवर्तन की धारा को रोक नहीं सकते हैं और न ही उससे अपने आपको अलग कर सकते हैं, और न ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम लोग, जिन्होंने अदन के बाग के फल का स्वाद चख लिया है, उस स्वाद को भूल कर मानव जाति की आदिम अवस्था में पहुंच सकते हैं।" जो समाजवादी और कम्युनिस्ट लोग दिनरात वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता पर बल दिया करते थे वे तो सीधे-सीधे कहा करते थे कि गांधी की अहिंसा से भारत की सामाजिक या राजनैतिक समस्याएँ कभी हल नहीं हो सकतीं। तथाकथित प्रगतिवादी लोग तो गांधी को निरन्तर प्रतिक्रियावादी सिद्ध करने में लगे ही रहते थे।

परन्तु गांधी कुछ ऐसे मसाले का बना था कि ये सब विरोध उसको तोड़ नहीं सके। उसने अपनी बातों को कलम और ज़बान से कहने के साथ-साथ रचनात्मक ढंग से उन पर अमल शुरू कर दिया और अपने आश्रम में अपने विचारों के अनुसार एक नई दुनिया तैयार करने के परीक्षण प्रारम्भ कर दिये। आश्रम के सम्बन्ध में आम लोगों की धारणा होती है कि वह मोक्ष की साधना करने वाले आध्यात्मिक पुरुषों का केन्द्र होगा। परन्तु गांधी का सेवाग्राम न मोक्ष-साधकों का केन्द्र था, न ही राजनीति-निष्णात पंडितों का। बल्कि वहां समाज-सेवा, गौ-सेवा, ग्राम-सुधार और बुनियादी तालीम तथा अछूतोंद्वारा के कार्यक्रम के माध्यम से सेवाग्राम को उलट कर ग्राम-सेवा का केन्द्र बनाया गया था। और तो और गांधी ने बाद में यह भी नियम बना दिया कि उनके आश्रम में कोई विवाह हो तो वर और वधू में से एक अवश्य हरिजन होना चाहिये। महात्मा गांधी जिस कांग्रेस का नेतृत्व कर रहे थे उस कांग्रेस को भी वे दरिद्रनारायण की सेवा का ही साधन बनाना चाहते थे। इसलिये स्वराज्य-प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् उन्होंने राजनैतिक पार्टी के रूप में कांग्रेस को विघटित करके जन सेवा करने वाली पार्टी के रूप में बदलना चाहा था।

परन्तु गांधी के देखते-देखते ही कांग्रेसी नेता सत्ता-प्राप्ति के मोह में अन्दर ही अन्दर गांधी के विद्रोही हो उठे। अदन के बाग के फल के स्वाद को भुलाना आसान नहीं था। नेहरू का कहना ठीक था। गांधी जिस तरह शहीद हुए उससे अपनी मौत से भी वे देश को साम्प्रदायिक उन्माद को भट्टी में पड़ने से बचा गये। रेखाओं के बीच में पड़ने वाली इतिहास-बुद्धि यह भी संकेत करती है कि यदि

गांधी उस समय न जाते तो कदाचित् उनको जीते जी ही और भयंकर दुर्दिन देखने पड़ते। इतिहास ने इस क्रूर दंग से मंच से उन्हें हटा कर कुछ काल के लिये सारे संसार में गांधी और गांधीवाद की उपयोगिता को अवश्य उजागर कर दिया। परन्तु ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों यह स्पष्ट होता गया कि गांधी की ग्रामोन्मुख सभ्यता के बजाय भारत के नेता पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता के पथ पर तेजी से बढ़ने को आतुर हैं। उस समय के भारतीय नेता जानते थे कि पश्चिम ने उन्नति के जो आर्थिक और राजनीतिक नमूने तैयार किये हैं वे सर्वथा त्रुटिहीन और परिपूर्ण नहीं हैं। परन्तु उनको विश्वास था कि धीरे-धीरे समय पाकर हम भारत के ढांचे में उनको ढाल सकेंगे। उन्होंने यह भी सोचा था कि पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी और पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता वाली प्रणाली अपनाकर भी उसमें साम्यवाद का इंजेक्शन देकर हम उसकी कमियों को दूर कर सकेंगे।

परन्तु गांधी के जाने के ४० साल बाद जो नया गांधी पैदा हुआ, उस तक आकर जैसे परिवर्तन का पहिया पूरा घूम गया है। अब नये गांधी ने, जिसमें उस गांधी का किसी भी तरह का कोई अंश नहीं है, इस देश को पुरानी सब मान्यताओं से निकाल कर सीधे २१वीं सदी की ओर तेजी से आगे बढ़ने का आह्वान किया है। उसकी ईमानदारी पर शक नहीं है और युवा मन को जिस तरह शानदार भविष्य के सुनहरे स्वप्न मोहित करते हैं, वे स्वप्न भी अपने स्थान पर बिल्कुल ठीक हैं। इस नये गांधी को उस पुराने गांधी से कोई वैर भी नहीं है। पर वह उसकी विरासत से मन और बुद्धि के स्तर पर सर्वथा वंचित है। जिस प्रकार नेहरू को कभी समाजवाद के नारे ने मोहित किया था, हालांकि तब भी गांधी की कुछ विरासत उसके साथ मौजूद थी, उसी प्रकार इस नये गांधी को वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के नारे ने आकर्षित किया है। वह स्वयं विमान-चालक रहा है इसलिये देश को हवाई जहाज में बिठाकर अब से तेरह साल बाद सीधे-सीधे २१वीं सदी की जमीन पर उतार देना चाहता है। इसके लिये उसे लगता है कि जब तक पश्चिम का पूरा अनुगमन नहीं होगा तब तक इस देश में तकनीकी उन्नति नहीं होगी और यह देश हवाई जहाज की बजाय बैलगाड़ी के युग में ही बना रहेगा। इस इरादे में कोई दोष नहीं है। परन्तु इतना अवश्य लगता है कि हमारे संविधान-निर्माताओं ने स्वराज्य-प्राप्ति की बेला में ही 'इंडिया, दैट इज़ भारत' कहकर भारत को गौण और इंडिया को प्रमुख बना दिया था, उसी स्वर को अवरोध से निकाल कर आरोह के उत्कर्ष तक पहुंचाते हुए २१वीं सदी में जिस देश को ले जाने की तैयारी की जा रही है, वह भारत नहीं, इंडिया होगा। चाहे २१वीं सदी में पहुंचने पर पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता के अनुकरण के सफर की मंजिल के रूप में कहीं भारत का नाम भी इंग्लैण्ड की नकल पर "भारतलेण्ड" तो नहीं हो जायेगा?

सार्वभौम राष्ट्र घोषित होने के बाद भी अभी तक यह देश अपने राष्ट्र होने का प्रमाण "इंडिया" से मांगता है। यह ठीक वैसी ही बात है जैसे पेंशन लेने वाले किसी व्यक्ति को पेंशन लेने के लिये जाने पर अपने जीवित होने का प्रमाण किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखवाकर देना पड़े। हर स्तर पर जैसे "इंडिया" भारत को ठोकर मारकर कहता रहता है—"तू कहां है, तू तो अभी केवल राज्य बना है, तुझे राष्ट्र बनना अभी शेष है।" दूसरी तरफ वे बुद्धिजीवी हैं जो निरन्तर यह कहते नहीं थकते कि भारत कभी एक राष्ट्र था ही नहीं, यह तो अंग्रेज़ बहादुर की और अंग्रेज़ी भाषा की कृपा थी जो उसने रेलों और सड़कों का जाल बिछा कर इस देश को एक राष्ट्र बनने की राह दिखाई। ये बुद्धिजीवी हमको समझाते हैं कि "माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः" के मंत्र द्वारा अपने राष्ट्र की वन्दना करने वाले उन गौरवशाली वैदिक ऋषियों को भूल जाओ।

हमारे सारे विकास का नया कार्यक्रम एक ऐसे धरातल पर बोया जा रहा है जो अस्तित्व-शून्य है। जिस राष्ट्र की अस्मिता के लिये करोड़ों लोगों ने आत्मदान किया था और जिसकी रक्षा के लिये लाखों लोगों ने सीना तानकर विदेशी आक्रमणकारियों की गोलियों का सामना करते हुए हंस-हंस कर अपना बलिदान देने की परम्परा जारी रखी थी, वह भारत राष्ट्र कहां है? कहां है हमारी वह अन्नपूर्णा मातृ-भूमि जो इस देश के जन-जन के मन में बसी है। अब तो रह गया है, केवल इंडिया। जनता-जनार्दन के मन में आत्मानुभूति के रूप में बसा वह राष्ट्र आज अपनी छाती पर इंडिया को मूंग दलते हुए देख रहा है। किसी भूमि में राज्य नहीं, वहां का जन, उसका धर्म (मज़हब नहीं) और उसका जीवन-दर्शन ही वहां का राष्ट्र होता है। भावी भारत अपनी उसी चिरंतन दीप्ति से आलोकित होने के लिये आतुर है। परन्तु २१वीं सदी में जिस राष्ट्र को ले जाने की तैयारी की जा रही है वह पुरातन अस्मिता से कटकर पश्चिम की नकल वाला इंडिया होगा। क्या पुराने गांधी से नये गांधी तक के सफर की यही मंजिल होने वाली है?

जब कम्यूटरीकृत इंडिया हवाई जहाज में बैठकर २१वीं सदी की ओर उड़ रहा होगा, तब वृद्ध और निरीह भारत हल की मूठ थामे खेत में खड़ा आसमान की ओर कौतुकभरी निगाह से देखता हुआ कह रहा होगा— 'हे राम!'

स्वागत, हे गणराज्य तुम्हारा!

हे गणराज्य दिवस! इस ठितुरती सर्दी में तुम आ गये, तुम्हारा स्वागत है। मौसम भले ही ठितुरा देने वाला हो, परन्तु तुम्हारी अगवानी का उचित वातावरण तैयार करने के लिये तुम से पहले बसन्त पंचमी भी आ गई। जो यह सन्देश दे गई कि अब सर्दी से कांपने के थोड़े ही दिन शेष रह गये हैं, और बसन्त ऋतु आने वाली है, जिसमें भारत—धरा हरीतिमा और रंग—बिरंगे फूलों से पट जाएगी। ऋतु—राज बसन्त की आशा में कुछ ही दिन का मेहमान यह पतझड़ का सूखा हेमन्त भी बिदा हो जायेगा, और ऐसा सुखद वातावरण छा जायेगा कि उसको देख कर पशु—पक्षियों, सहृदयों और कवि—जनों की वाणी अनायास मुखरित होगी। बसन्त की आशा में भारत की जनता इस ठितुरन को भी खुशी—खुशी झेल लेगी।

१५ अगस्त को स्वाधीनता दिवस आया था। आज तुम आये हो, तुम उसके अनुज हो न! स्वाधीनता दिवस से ढाई साल पीछे। वह सबसे पहले सन् १९४७ के मध्य में आया था, और तुम ढाई साल बाद सन् १९५० में। वह केवल लाल किले के प्राचीर पर राष्ट्रीय ध्वज के आरोहण तक सीमित रह गया, और तुमने गणराज्य—दिवस की परेड के नाम से ऐसा राजसी वैभव अपने साथ समेट लिया कि उसे देखने को न केवल देश की जनता, बल्कि विदेशों के भी लोग दूट पड़ते हैं। प्रथम गणराज्य दिवस के अवसर पर राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद की छः घोड़ों की बग्गी पर निकली सवारी को जिन्होंने अपनी आंखों से देखा है, वे आज की इस राष्ट्रीय समृद्धि और शक्ति की सूचक वैभवशाली परेड की कल्पना कहां कर सकें होंगे। तुम्हारा आगमन लगातार आगे बढ़ते राष्ट्र की विकासशीलता का और समृद्धि का प्रतीक बन गया है। इस राजसी परेड को देख कर जहां अपने राष्ट्र की वर्तमान और भावी समृद्धि का संकेत मिलता है, वहां राज्य के सम्बंध में कुछ चिन्तनीय प्रश्न भी मानसिक धरातल को कुरेदते हैं।

भारत को गणराज्य घोषित करते समय जो लोकतंत्रीय प्रणाली हमने स्वीकार की थी, उसके जहां कुछ वरदान हैं, वहां कुछ अभिशाप भी हैं। लोकतंत्र का सारा आधार क्योंकि लोक है, तंत्र नहीं, इसलिये जब—जब लोक पर तंत्र हावी होने लगता

है, तो लगता है कि इस लोकतंत्र से तो अधिनायक-तंत्र को अपना लेना कहीं अधिक अच्छा होता। शायद अधिनायक-तंत्र में कामों के अंजाम देने में सहूलियत भी होती है। इसलिये उसमें विकास की गति भी तेज हो सकती हो। परन्तु लोक के बल पर चलने वाला तंत्र इतनी तेजी से नहीं चल सकता, यही उसका अभिशाप है। परन्तु इस अभिशाप को भी हम बहुत बड़ा वरदान मानते हैं। हमें किसी अधिनायक के आदेश से द्रुतगति से हुआ विकास नहीं चाहिये। हमें अपने पुरुषार्थ से अर्जित, —भले ही उसमें कुछ विलम्ब क्यों न हो जाये— विकास की ही आकांक्षा है, क्योंकि उसमें हमारा अपना सक्रिय योगदान है। जिस विकास में जनता का योगदान नहीं है, वह एक तरह से ऊपर से थोपा हुआ विकास होगा। जबरदस्ती खिलाया गया या भीख में मांगा गया हलवा हमें नहीं चाहिये। हमें अपने श्रम से कमाई रोटी ही मुबारक हो।

लोक-लाज के बिना लोक-राज नहीं चलेगा परन्तु जब लोकतंत्र के नेताओं में, नेताओं की आंखों में शर्म और हया नहीं रहती, तब वे निर्लज्ज होकर लोक-मानस की भावनाओं का निरादर करने से भी नहीं चूकते। भले और बुरे की पहचान के लिये एक कसौटी यह है कि जिस काम को करने में भय, शंका और लज्जा का सामना करना पड़े, वह काम नहीं करना चाहिये, और जिस काम को करने में उत्साह आनन्द और प्रसन्नता का अनुभव हो, उसे करने में कभी हिचकना नहीं चाहिये। सत्य और असत्य के विवेक की यह एक ऐसी कसौटी है, जो परमात्मा ने प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थापित कर दी है। धर्म और अधर्म के विषय में असली कसौटी मनुष्य का अपना अन्तःकरण है, और उसी अन्तःकरण के माध्यम से धर्म के सार के रूप में इस सिद्धान्त की स्थापना हुई है :

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् अपनी आत्मा के विपरीत आचरण दूसरों से नहीं करना चाहिये। धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य और अकर्तव्य के सब नियम-उपनियम इसी एक कसौटी पर कसे जा सकते हैं। मनुष्य के अपने अन्तःकरण से बढ़कर संसार का कोई न्यायालय नहीं है। अगर मनुष्य की आत्मा में ऐसी समान संवेदनशीलता न होती, तो कभी सही मानवता विकसित न होती। सत्य सत्य इसीलिये है क्योंकि संसार के प्रत्येक मानव की आत्मा उसे सत्य के रूप में ग्रहण करती है। इसीलिये सत्य कभी खण्डित नहीं होता, क्योंकि वह सार्वभौम है। धर्म के जितने शास्त्र और सिद्धांत हैं, वे मानव की आत्मा से उद्भूत हैं। इसलिये उनमें प्रदेश-विशेष और काल-विशेष से अन्तर नहीं पड़ता। काल और प्रदेश के हिसाब से जो सिद्धांत बदल जाते हैं, वे कुछ लोगों की मान्यताएं हो सकती हैं। परन्तु शाश्वत सत्य की कोटि में नहीं आ सकती।

परन्तु मनुष्य के अन्तःकरण पर भी जब धीरे धीरे राग-द्वेष आदि के मलों का आवरण चढ़ने लगता है तब मनुष्य का अन्तःकरण भी इतना कलुषित हो सकता है कि वह मानव को सही दिशा-निर्देश न दे सके। लोकतंत्र के नेताओं के मन में तो लोकलाज का भय निकल गया है, वे इसी कोटि में आते हैं। शायद कोयले की कोठरी में रहते-रहते कालिमा ने उनकी धवलिमा को ही ढक लिया है। भारतीय संस्कृति की विशेषता यह रही है कि हमने हमेशा "आवाजे-खल्क को नक्काराये खुदा" समझा। हमने जनता-जनार्दन के विवेक पर विश्वास किया। इसलिये तंत्र को लोक के प्रति उत्तरदायी माना। लोक पहले विद्यमान रहता है। वही अपने ऊपर शासन करने वाले का चुनाव करता है। इसलिये लोक स्थाई है, तंत्र अस्थायी है। लोक चाहे तो तंत्र को बदल सकता है, तभी तो वह लोकतंत्र कहलाता है। पर जब तंत्र को अपनी बपोती समझने वाले या राजा में ईश्वरीय अंश की कल्पना करने वाले तंत्र के दिमाग में यह भुस भर देते हैं कि जनता तुम्हारी गुलाम है, और तुम उसके मालिक हो, तब उनको जनता-जनार्दन की आवाज में खुदा की आवाज सुनाई नहीं देती। तब वे अपनी आवाज को ही "नक्काराये खुदा" मानने लग जाते हैं। समाज के प्रति गैर-जिम्मेदारी की यह भावना हमने पश्चिम की राजनीति से सीखी है। हम यह समझने लगे हैं कि शासक को बिना लोक की चिन्ता किये अपनी मर्जी चलाने का अधिकार है। और लोक का काम केवल इतना है कि वह गर्दन झुकाकर चुपचाप तंत्र के चाबुक से हांके जाना बर्दाश्त करता रहे। इस पद्धति में सरकार कानून बनाती है, और उन कानूनों पर चलने का वचन देती है। परन्तु जब अपने बनाये कानून पर वह खुद नहीं चल पाती या नहीं चलना चाहती, तो उसके मन में कोई मलाल नहीं होता। गनीमत यही है कि अभी न्यायालय मौजूद हैं, और सरकारी कानूनों की व्याख्या करना उनका उत्तरदायित्व है। ऐसे भी अवसर आते हैं, जब किसी भी कानून का सही ढंग से पालन न करने के लिये न्यायालय सरकार को फटकारते हैं। परन्तु तब सरकार अपनी खाल बचाने के लिये संविधान में ही संशोधन कर देती है, या कानून का इस तरह संशोधन कर देती है कि आगे से उस पर अंगुली न उठाई जाये। आखिर कानूनों की अवहेलना होने का कारण क्या है?

अभी हाल में ही कानपुर में गंगा के प्रदूषण के विरुद्ध जब उच्चतम न्यायालय में याचिका दी गई और न्यायाधीशों के सामने यह बात आई कि इस औद्योगिक शहर की जितनी औद्योगिक इकाईयां हैं, उनसे प्रतिदिन २७ करोड़ टन गंद गंगा में गिरता है, तो पतित-पावनी के नाम से विख्यात गंगा का जल भी प्रदूषित होकर अपेय होने से बच नहीं सकता। तब न्यायाधीशों ने यह आदेश दिया कि किसी शहर में किसी ऐसे उद्योग की स्थापना की अनुमति न दी जाये जो वायु और जल

को प्रदूषित करने वाले अपने रासायनिक उच्छेषों को स्वयं नियंत्रित न कर सके। ऐसा कौन सा शहर है जिसमें भांति-भांति के उद्योग भी चलते हों, और उसके कल-कारखाने नदियों और वायुमण्डल को प्रदूषित न करते हों। एक तरफ हम गंगा को प्रदूषण-मुक्त करने के लिये करोड़ों रुपये की योजनाएं बनाते हैं, पर ऐसी व्यवस्था नहीं करते कि यह बीमारी पैदा ही न हो। बीमारी का असली इलाज औषधि या इंजेक्शन के द्वारा शरीर को अप्राकृतिक अवस्थाओं से गुजारना नहीं, बल्कि पथ्य और ऐहतियात ही सही उपचार है। इसे अंग्रेजी की कहावत में हम कहते हैं "प्रिक्वॉशन ऑर प्रिवैन्शन इज़ बैटर दैन क्योर।"

भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार समाज ने जिस पद्धति को स्वीकार किया था, उसमें वेद और लोक दोनों का समान दर्जा था, और उसका विधान ऋषि-मुनि तैयार करते थे। जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता था, वे ही लोक के सच्चे प्रतिनिधि होते थे। यदि किसी विषय में धर्म-शास्त्र मूक हों तो वे लोक को और लोक के सर्वसामान्य अन्तःकरण को कसौटी मानकर जो कायदे कानून बनाते थे, राजा का काम उनका परिपालन था, न कि अपने बनाये हुए कोई कानून जनता पर थोपना। तब तंत्र लोक के प्रति जिम्मेदार होता था। तंत्र का निर्माण था ही इसलिये कि वह लोक को मर्यादा में रख सके। न कि स्वयं उन मर्यादाओं का उल्लंघन करे।

हे गणराज्य दिवस! तुम तो ऋतुराज बसन्त के आगमन की सूचना लेकर आये हो। हमारी जनता अपने अतिथि-प्रेम के लिये मशहूर है। हे लोक-राज्य के महोत्सव! तुम्हारे स्वागत में यह भूखा भारत अपने पलक पांवड़े बिछाये खड़ा है। अपनी रूखी-सूखी से तुम्हारा स्वागत सहर्ष करने को तैयार है। पर लोक के जिस वर्ग को रूखी-सूखी भी सुलभ नहीं है, उसके नसीब पर भी दया करना, और अगर तुम्हारे स्वागत के लिये उन बेसहारा लोगों के घरों के द्वार पर बन्दनवार न सजे तो कुपित न होना। तुम्हारे स्वागत के लिये इतना ही बहुत है कि तुम भावी बसन्त का सन्देश लेकर आये हो। हे गणराज्य दिवस! तुम्हारा स्वागत है।

२४ जनवरी १९८८

सपने चूर-चूर हो गये

स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व का युग जिन्होंने देखा है, उनमें से अधिकांश लोगों के मन में यही बात आती है कि हमने आजादी के बाद के जो सपने लिये थे, वे सब चूर-चूर हो गये हैं। अधिकांश के मन में देश की वर्तमान परिस्थितियों को देख कर जितना आक्रोश है, निराशा उससे किसी प्रकार कम नहीं है। वे बार-बार अपने से और अपने से भिन्न लोगों से यही प्रश्न करते हैं कि हमने आजादी के संघर्ष में अपना तन-मन-धन तथा सर्वस्व होम देने की जिस आकांक्षा से योग दिया था, क्या उसका यही परिणाम होना था? गुलामी के दौर में वे समझते थे कि हमारी सारी समस्याओं की जड़ और परेशानियों का कारण अंग्रेजों की दासता है। अंग्रेज यहां से चले जायेंगे तो स्वतंत्र भारत अपनी समस्याओं को पलक झपकते हल कर लेगा। हम नरक-कुण्ड से निकल कर सीधे स्वर्ग के वातावरण में पहुंच जाएंगे। जब तक अंग्रेज मौजूद हैं तब तक वे हमें सुख और चैन की सांस नहीं लेने देंगे। ब्रिटिश साम्राज्य का समस्त ऐश्वर्य और राजसी तथा औद्योगिक समृद्धि भारत जैसे उपनिवेशों के कारण ही सम्भव हो पाई है। अंग्रेजों के जाने के पश्चात् भारत का धन भारत में रहेगा, और जो समृद्धि आज उन्हें प्राप्त है, कल हमें प्राप्त होगी।

परन्तु सपने क्या किसी के इतनी आसानी से पूरे हो जाया करते हैं? सपनों में लंगड़ा पर्वतों के शिखरों का आरोहण करता है, अन्धे सब रंग-बिरंगे रोमांचकारी दृश्यों को देखते हैं, बहरे न जाने किस-किस प्रकार के मधुर संगीत अपने कानों से सुनते हैं। जिस प्रभु की कृपा से इन सब वरदानों के प्राप्त होने की कल्पना की जाती है, वे सब वरदान सपने में अनायास प्राप्त हो जाते हैं। बल्कि बहुत बार तो यही होता है कि यथार्थ जीवन में जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, हम स्वप्नलोक में विचरण करते हुए उन सब अनुपलब्ध चीजों को भी प्राप्त कर लेते हैं। सपने इसीलिये इतने लुभावने होते हैं। परन्तु जागने पर पता लगता है कि वे केवल स्वप्न थे। हमारा मन रूपी मृग स्वप्न-लोक की चरागाह में चरता-चरता शादल की जिस मृग-तृष्णा में भटक रहा था वह जागने पर केवल विशाल मरुस्थल निकलता है।

इस निराशा और आक्रोश का एक कारण और भी है। वह कारण अधिक मनोवैज्ञानिक है। आज़ादी के पहले की पीढ़ी अधिकतर जीवन के उत्तरार्ध में पहुंच चुकी है और उस पर बुढ़ापा हावी है। यह बुढ़ापे की विशेषता है कि उसे वर्तमान हमेशा असन्तोष देता है और अतीत हमेशा सुखदायक प्रतीत होता है। आज़ादी के बाद के वातावरण को देख कर जो लोग कभी कभी हताशा में यह कहने लग जाते हैं कि इससे तो अंग्रेजों का राज ही अच्छा था, वे एक तरह से अपने आपको आधुनिक युग में अन्यथा सिद्ध पाते हैं। और इसीलिये अपनी जवानी के दिनों के उत्साहपूर्ण चित्रण से कुछ मानसिक आश्वस्तता अनुभव करते हैं। जो लोग हमेशा अतीत के गीत गाते रहते हैं वे निश्चित रूप से वर्तमान परिस्थितियों को बदलने में अपनी विफलता को अनुभव करके ही पुराने ज़माने के गीत गा-गा कर ही सन्तुष्ट होते रहते हैं।

एक तरफ आज़ादी के पहले की वह पुरानी पीढ़ी है, और दूसरी तरफ आज़ादी के बाद की नई पीढ़ी है। दोनों पीढ़ियों के विचारों में स्पष्ट रूप से अन्तर है। जिन्होंने आज़ादी के पहले का युग नहीं देखा वे उस माहौल की कल्पना नहीं कर सकते हैं।

आज़ादी के पश्चात् गत ४० वर्षों में कोई तरक्की नहीं की, ऐसा कहना सत्य का सर्वथा अपलाप होगा। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि ज्यों-ज्यों गरीबी हटाने के नारे लगते चले गये त्यों-त्यों गरीब और बढ़ते ही चले गये। इसमें हमारे देश की ज्यामितिक अनुपात से निरन्तर बढ़ती हुई आबादी भी एक बहुत बड़ा कारण है। आबादी के बढ़ने के साथ साथ बेरोजगारी भी बढ़ी है। जितने-जितने रोज़गार के साधन जुटाये जाते रहे उतने-उतने बेरोज़गारों की संख्या भी बढ़ती चली गई। शिक्षा का जो ढांचा हमने तैयार किया उसमें श्रम के बजाय किन्हीं अन्य उपायों से अधिकाधिक धन कमाने की लालसा ने शिक्षित बेरोजगारों की भी फौज खड़ी कर दी। कागज़ी मुद्रा का इतना फैलाव हो गया है कि जीवन-उपयोगी वस्तुओं को खरीदने के लिये अब जितना खर्च करना पड़ता है वह उन लोगों के लिये बिल्कुल दूभर है जिनके पास उतनी मात्रा में कागज़ी मुद्रा नहीं होती। पहले भारतीय संस्कृति की विशेषता यह समझी जाती थी कि उसमें गरीब से गरीब व्यक्ति का भी गुजारा हो जाता था, पर अब गरीब के लिये जीना मुहाल है।

सरकार योजनाएं बनाती है, और उनकी पूर्ति के लिये बजट में धन की व्यवस्था करती है। अमुक योजना को अमुक अवधि में पूरा करने के लिये कर्मचारी-मण्डल भी नियुक्त कर दिया जाता है। परन्तु प्रायः सरकार की योजनाएं कागज़ों में ही अधिक पूरी होती हैं। उदाहरण के लिये बैंकों से मिलने वाले कर्ज़ और सूखा-राहत के लिये दिए गए धन की व्यवस्था को देखें। ज़रूरतमंदों तक कितनी कर्ज़ की

राशि पहुंचती है, और कितनी राशि बिचौलिये खा जाते हैं। इसका हिसाब कौन रखता है? सूखा—राहत में भी राहत—कार्य में लगे कर्मचारियों को जितनी राहत मिल जाती है, उतनी सूखा पीड़ितों को कहां मिल पाती है? राजनीति में भी जिस प्रकार लोकतंत्र के बजाय सामंत—तंत्र और राजतंत्र बढ़ता चला जा रहा है, वह भी प्रत्येक राष्ट्र—हितैषी के लिये चिन्ता की बात है।

आज़ादी से पहले और आज़ादी के बाद के वातावरण में जो सबसे बड़ा परिवर्तन आया है वह यह है कि पहले प्रत्येक व्यक्ति अपने आपसे यह पूछता था कि मैंने राष्ट्र के लिये क्या किया है? उस समय एक तरह से राष्ट्र के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने की होड़ लगी रहती थी। परन्तु अब प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति यह पूछता है कि राष्ट्र ने मेरे लिये क्या किया है? पहले त्याग की होड़ थी, अब मांग की होड़ है। पर हम निराश नहीं हैं। हमें अब भी राष्ट्र के भविष्य पर विश्वास है, और महान इतिहासकार 'टॉयनबी' की इस भविष्यवाणी पर भी विश्वास है कि वर्तमान सभ्यता भले ही पश्चिम की देन हो, परन्तु संसार में सुख और शान्ति स्थापित करने वाली भावी सभ्यता भारत की देन होगी। समुद्र—मन्थन में से विष भी तो निकलता ही है। यह ठीक है कि उस विष से सब घबराते हैं, सिवाय महादेव के। उस पौराणिक महादेव का उपासक यह भारत भी तो महादेव से कम थोड़े ही है। यह भी उस विष को पचा जायेगा और देवता लोग तब तक समुद्र मन्थन जारी रखेंगे, जब तक अमृत प्राप्त नहीं हो जाता। वह अमृत जो केवल अपने लिये नहीं, सारे विश्व के लिये हो। अभी तो समुद्र—मंथन जारी है।

३१ जनवरी १९८८



‘ऊर्ध्व-बाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते?।।’

‘अरे लोगो! मैं भुजा उठाकर यह उच्च स्वर से कह रहा हूँ, परन्तु कोई मेरी बात सुनता नहीं। मनुष्य—जीवन के जो चार पुरुषार्थ हैं— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनमें सांसारिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक अर्थ और काम की सिद्धि भी धर्म के माध्यम से ही हो सकती है। लोग धर्म का सेवन क्यों नहीं करते?’

—‘चयनिका’, पृष्ठ १७३

जिस अमृत की तलाश थी

३१ जनवरी के गणराज्य दिवस सम्बंधी अंक में "सपने चूर चूर हो गये!" शीर्षक से जो अग्रलेख हमने लिखा था, उसकी मिश्रित प्रतिक्रिया पाठकों से प्राप्त हुई है। कुछ पाठकों ने उसकी बहुत प्रशंसा की है, और कुछ ने लेख के उत्तरार्द्ध में प्रकट किये आशावाद को निरर्थक तथा दूर की कौड़ी बताया है। उस लेख के अन्त में हमने कहा था कि देश की वर्तमान स्थिति समुद्र-मन्थन से निकलने वाले हलाहल विष का प्रतीक है, और महादेव-रूपी यह महादेश उस हलाहल को भी पचा लेगा, तथा देवता लोग तब तक विश्राम नहीं लेंगे, जब तक अमृत की प्राप्ति न हो। उसी संदर्भ में हमने महान इतिहासकार "टॉयनबी" की इस भविष्यवाणी का भी उल्लेख किया था कि 'वर्तमान संसार भले ही पाश्चात्य सभ्यता से ग्रस्त हो किन्तु भविष्य में संसार को सुख और शान्ति भारतीय सभ्यता से ही प्राप्त होगी।' जिस अमृत की ओर हमने संकेत किया था और जिसकी हम तलाश में थे, उसके आसार सर्वथा लुप्त नहीं हुए हैं। हाल ही में उसका प्रमाण भी मिल गया है।

महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में मेरठ की कमीशनरी का घेराव करने वाला जो किसान-आन्दोलन घला है, वह अद्भुत है। जिन्होंने गांधी के सत्याग्रह देखे हैं, और उसमें शामिल होने वाले लोगों का उत्साह देखा है, इन किसान-आन्दोलन को देख कर उनकी आंखों में जैसे वही युग तैरने लगा। महात्मा गांधी ने राज-शक्ति के मुकाबले में लोक-शक्ति को जागृत किया था, और वही उनकी सफलता का रहस्य था। सरदार पटेल ने भी बारदौली में किसान-आन्दोलन का नेतृत्व करके ही सारे देश में "सरदार" का खिताब पाया था। परन्तु टिकैत के नेतृत्व वाला यह आन्दोलन उस समय के आन्दोलन को भी पीछे छोड़ गया। महात्मा गांधी और सरदार पटेल जैसे राजनीति के धुरन्धर, कानून के पण्डित और वर्षों तक जेल में तपस्या करने वाले सर्वजन-मान्य नेता और कहां टिकैत! कहां राजा भोज कहां गंगू तेली! टिकैत जैसा अनपढ़ और खांटी किसान गांधी, पटेल और नेहरू जैसे सभा-चतुर नेताओं के मुकाबले में कहां टिक सकता है? वे सब राजनीति के चाणक्य थे, और टिकैत राजनीति का क ख ग भी नहीं जानता। परन्तु इसका प्रभाव किसान आन्दोलन में शामिल विशाल जन समुदाय पर उन नेताओं से किसी प्रकार कम

नहीं। मेरठ की कमीशनरी के चारों ओर कई किलो मीटर तक फैली किसानों की यह जल मैदानी, टिकैत के एक वाक्य पर अपने प्राण न्यौछावर करने को तैयार!

हमने संजय और इन्दिरा गांधी के युग की रैलियां भी देखी हैं। चौधरी चरणसिंह द्वारा और शरद यादव द्वारा आयोजित किसानों की विशाल और अभूतपूर्व रैलियां भी देखी हैं। परन्तु टिकैत का यह किसान आन्दोलन उन सबसे आगे बढ़ गया। उन रैलियों में देहात से लोगों को ट्रकों और बसों में भर-भर कर लाया जाता था। उनके ठहरने और भोजन आदि की व्यवस्था की जाती थी, और बहुतों को रैली में शामिल होने के लिये पैसे भी दिये जाते थे। परन्तु टिकैत के इस आन्दोलन में ऐसा कुछ नहीं हुआ। सब किसान अपने आप और अपनी इच्छा से आये हैं। उनके निवास और भोजन की कहीं कोई पूर्व-व्यवस्था नहीं की गई थी, और वे भयंकर सर्दी के मौसम में भी २४ घंटे खुले मैदान में पड़े रहे। दिन में तो सूर्य भगवान की कृपा से किसी तरह थोड़ी बहुत राहत मिल जाती, परन्तु रात में चारों ओर अलाव जल जाते और लोग किसी तरह अपनी रात काट लेते। न तो उनके उत्साह में कमी आई और न उन्होंने कष्टों से घबराना सीखा। टिकैत ने किसी राजनैतिक पार्टी का आश्रय नहीं लिया, किसी राजनैतिक नेता को भी पास नहीं फटकने दिया। वकीलों और व्यापारियों ने इस किसान-आन्दोलन के समर्थन में मेरठ-बन्द का आयोजन भी किया परन्तु टिकैत ने उसको भी रोक दिया। उसका कहना था कि किसान भूमि का राजा है, वह असली भूमि-पुत्र है। वह आपकी सहानुभूति के लिये आपका कृतज्ञ है। परन्तु इस सहानुभूति के कारण आप बाजार और दुकानें बन्द करके जनता को परेशानी में क्यों डालते हैं? इस अहिंसक अद्भुत सत्याग्रह को देख कर पुलिस और सुरक्षा-बल भी तथा सारा सरकारी अमला भी किंकर्तव्यविमूढ़ है। उसकी समझ में नहीं आता कि हम क्या करें? अगर ये लाखों लोग हिंसा पर उतर आये तो सारा सरकारी अमला, और पुलिस तथा सुरक्षा-बल भी एक तरफ रखा रह जाये। परन्तु विचित्र है यह टिकैत! वह कहता है कि पुलिस वाले हमारे भाई हैं, सुरक्षा-बल वाले भी और सरकारी अमले के लोग भी। उनसे हमारा क्या झगड़ा? हम तो सरकार से केवल अपने उचित अधिकारों की मांग कर रहे हैं।

यही लोक-शक्ति वह अमृत है, जिसके आगे राज-शक्ति को भी झुकना पड़ता है। यही लोक-शक्ति भारत के ग्रामों में पंचायतों के माध्यम से अपना कार्य करती थी। यही भारतीय सभ्यता का मूल भी है। तभी हम कहते हैं कि लोकतंत्र में तंत्र अस्थाई होता है, और लोक स्थाई होता है। पहले मुगल-काल में और बाद में ब्रिटिश-काल में, तथा तदनन्तर आजाद भारत के राजनेताओं ने भी, न केवल इस लोक-शक्ति की उपेक्षा की है, बल्कि उसे सब तरह से विकलांग बनाने का प्रयत्न

किया है। अगर यह लोक-शक्ति जागृत हो जाये, तो मानवीय अन्तःकरण में सर्वमान्य नैतिकता के जो सामान्य सूत्र प्रभावित होते हैं, वे सार्थक होंगे। इसी लोक-शक्ति ने सिकन्दर के आक्रमण को भी विफल किया था। इस लोक-शक्ति ने सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति में अपना संक्षिप्त उज्ज्वलतम रूप प्रदर्शित किया था। परन्तु तब उस पर राज-शक्ति हावी हो गई। यह लोक-शक्ति ही अपनी सहभागिता से राज-शक्ति को प्राणवान् बनाती है। और जो राज-शक्ति इस लोक-शक्ति की उपेक्षा करती है वह एक दिन धराशायी हुए बिना नहीं रहती। नैतिकता के सामान्य नियमों पर चलने वाली यह लोक-शक्ति अजेय है। यही भारतीय सभ्यता की रीढ़ है। यही वह अमृत है जिसकी हम तलाश में हैं। टिकैत के इस आन्दोलन का परिणाम क्या होगा, यह हम नहीं जानते। परन्तु लोक-शक्ति के इस जाज्वल्यमान रूप को देखकर हमको उस काल्पनिक अमृत के आस्वाद का आभास हो गया है, जिसकी हम तलाश में हैं। और उसी के आधार पर हम कहते हैं कि ये सपने चूर-चूर नहीं होंगे।

२१ फरवरी १९८८



समाज-सुधारक होने के कारण शितीश जी के सामाजिक सुधार संबंधी विचार क्रान्तिकारी थे। वह समाज-सुधार का आधार व्यक्ति को मानते थे। व्यक्ति सुधरेगा तो समाज भी सुधार जायेगा। उनका मत है—

“मेरे मन को धिरकाल से एक प्रश्न लगातार कुरेदता रहा है, और वह यह है कि क्या व्यक्ति के बिना समाष्टि की कोई सत्ता है? क्या इकाई के बिना कोई दहाई की कल्पना की जा सकती है? क्या घर के अभाव में बाहर का कोई मूल्य है? क्या व्यक्ति में सुधार किए बिना समाज-सुधार सम्भव है? इसलिए इसे विश्व को सुधारने का ठेका लेने के बजाय, व्यक्ति को सुधारने की बात की जाये तो व्यावहारिक दृष्टि से समीचीन होगी।”

इन ज्वलन्त समस्याओं के अतिरिक्त अन्य सभी समस्याओं पर शितीश जी का कलम-कुठार चलता रहा है— वेद-प्रचार, वीर अर्जुन, हिन्दुस्तान और आर्यजगत् का सम्पादन करने के व्यस्त समय के बावजूद उन्होंने २० से भी अधिक पुस्तकें लिखीं। उनके भाषणों और लेखों की संख्या तो अगणित है।

—श्री सतीश, दत्तात्रेय तिवारी

स०सं० दैनिक हिन्दुस्तान

टी-८, ग्रीन पार्क एक्सटेंशन, नई दिल्ली

आज़ादी की यह कैसी दौड़ ?

आज़ादी की ४०वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में २७ फरवरी १९८८ को नई दिल्ली के विजय चौक से जो दौड़ शुरू हुई, उसमें आयोजकों के हिसाब से दौड़ने वालों की संख्या सवा लाख के आसपास रहनी थी। परन्तु प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि इस दौड़ में बच्चे, बूढ़े, जवान सब मिलाकर ढाई लाख से कम नहीं थे। इस दृष्टि से यह दौड़ 'महान्' भी थी और अनुपम भी। इतनी बड़ी दौड़ शायद आज तक संसार के किसी देश में नहीं हुई होगी। आज़ादी के साथ इस दौड़ का क्या सम्बंध है? यह बहुत विचार करने के पश्चात् भी हमारी समझ में नहीं आया। यह दोष भी हमारी ही बुद्धि का होगा, क्योंकि राष्ट्र का संचालन करने वाली कुर्सियों पर बैठे महान् जिम्मेवार लोगों की बुद्धि तक हम नहीं पहुंच सकते। फिर भी नेताओं की बुद्धि की उर्वरता की दाद देनी होगी कि उन्होंने इस दौड़ द्वारा "आज़ादी की दौड़" के नाम से इतना बड़ा आयोजन कर डाला। एक ओर महात्मा गांधी की दांडी-कूच की दौड़ थी, जिसमें मुश्किल से सौ व्यक्ति भी नहीं रहे होंगे। दूसरी ओर यह विशाल दौड़ है, जिसमें संख्या दो लाख से ऊपर पहुंच गई। गांधी के दांडी-कूच में एक संदेश था, और सचमुच आज़ादी की तड़प थी। भले ही मुट्ठी भर नमक बनाने के अपराध में जो लोग गिरफ्तार हो गये, उन्होंने कोई बड़ा तीर न मारा हो, परन्तु अंग्रेज सरकार को तो हिला ही दिया। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह एक उत्पादक श्रम का प्रतीक थी। जहां तक आज़ादी की तड़प का सवाल है, उसके लिये इतना ही कहना काफी है कि कूच के लिये निकले थे कि अब मैं इस आश्रम में वापस तभी लौटूंगा, जब आज़ादी हासिल कर लूंगा। उसके बाद देश भले ही आज़ाद हो गया, परन्तु महात्मा गांधी लौटकर दोबारा साबरमती आश्रम नहीं गये, नहीं जा सके, क्योंकि उससे पहले ही वे शहीद हो गये।

कहा जाता है कि इस समय की तीन चौथाई पीढ़ी आज़ादी के बाद पैदा हुई है। कितनी कुर्बानी से वह आज़ादी प्राप्त हुई थी, इसकी तमीज़ इस पीढ़ी को नहीं है। परन्तु कृपा करके आज़ादी के नाम पर दौड़ के रूप में इतने बड़े तमाशे का आयोजन करके उन कुर्बानी करने वालों का मखौल तो मत उड़ाईये। आज़ादी के नाम पर होने वाली इस दौड़ का नेतृत्व करने के लिये सिनेमा के

अभिनेता और अभिनेत्रियाँ ही रह गये थे? देश के बड़े-बूढ़े सारे स्वतंत्रता-सेनानी मर गये थे? जब महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में अहिंसक सत्याग्रह किया था तब स्वामी श्रद्धानन्द ने और गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारियों ने कई दिन का उपवास करके जमा की गई राशि गांधी जी को भेजी थी, और गांधी जी इस राशि को पाकर चकित रह गये थे। इसलिये उन्होंने दक्षिण अफ्रीका से लौटते ही सबसे पहला काम गुरुकुल कांगड़ी में जाकर महात्मा मुंशीराम के चरण-स्पर्श करने का किया था। दूसरी तरफ नाईजीरिया में तथा अन्य अफ्रीकी देशों में जब भीषण अकाल पड़ा, तो अमरीका और जापान, ने और उनकी देखा-देखी भारत ने भी इसी प्रकार लम्बी दौड़ का आयोजन किया। परन्तु क्या इस दौड़ से अफ्रीका-निवासियों की भूख मिट गई। उस दौड़ के पश्चात् अमरीका ने तो फिर भी पैसा इकट्ठा करने के लिये सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया, जिसकी टिकट-दर खूब ऊंची रखी गई। सांस्कृतिक कार्यक्रम भी क्या था! रातभर घोर अश्लील नृत्यों का जमघट और उसको देखने के लिये लोगों की भारी भीड़ का जमघट! अमरीकी सम्म्यता की दृष्टि से पैसा इकट्ठा करने का ढंग वही था, जबकि भारतीय संस्कृति का उदाहरण गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने उपस्थित किया था। पर भारत में हुई उस दौड़ में तो नाईजीरिया के अकालपीड़ितों की रस्ती भर भी सहायता नहीं हुई।

स्वास्थ्य के लिये दौड़ना अच्छा है। पर इस दौड़ से सबसे बड़ी शिकायत तो यह है कि लाखों लोगों के द्वारा किया गया यह कई घंटों का श्रम जितना अनुत्पादक था, उतना ही अनर्थ भी था। घंटों के हिसाब से इस मानवीय श्रम की कीमत जोड़ी जाय तो उसका मूल्य बहुत कुछ हो सकता है, पर रचनात्मकता के अभाव में यह सारा श्रम केवल अजा-गल-स्तनवत् (बकरी के गले के थन की तरह) व्यर्थ ही रहा। यदि सारे श्रम को किसी रचनात्मक दिशा में मोड़ दिया जाता, तो वह कितना सार्थक हो उठता। परन्तु वर्तमान सरकार जिस तरह बजट की अधिकांश राशि अनुत्पादक सरकारी तामझाम में और नौकर शाही में नष्ट कर देती है, उसी प्रकार की मनोवृत्ति इस प्रकार के तमाशों में भी दिखाई देती है। इस प्रकार के अनुत्पादक श्रम को महात्मा गांधी कभी सहन नहीं कर सकते थे।

नहीं, इस दौड़ का आज़ादी से दूर का भी सम्बंध नहीं है। आज़ाद भारत में यह दौड़ने की आज़ादी का प्रतीक भले ही बन जाये, परन्तु सच पूछो तो यह आज़ादी की दौड़ नहीं, आज़ादी से पलायन की दौड़ है। इस दौड़ का एक और प्रतीकार्थ है, जिसको शायद लोग नहीं समझ पायेंगे। वह प्रतीक-अर्थ इक्कीस किलोमीटर की दूरी निर्धारित करने से व्यक्त होती है। अर्थात् २५वीं सदी में ताबड़तोड़ पहुंचने की जल्दी में यह दौड़ लगाई गई है। परन्तु उसके लिये दौड़ने की जरूरत क्या है? गांधी के दांडी कूच को रोकने के लिये सरकार और पुलिस मौजूद थी, परन्तु

२१वीं सदी में पहुंचने से आपको रोकने वाला अब कौन है? सिर्फ १२ साल ही तो बचे हैं। एक-एक साल में एक-एक कदम रखते हुए भी आप २१वीं सदी में सही सलामत पहुंच जाते। परन्तु महोत्सवों और तमाशों की संस्कृति में विश्वास रखने वाली पीढ़ी में इतना धैर्य कहां है? वह तो एक ही दिन की दौड़ में २०वीं सदी को लांघ कर इक्कीसवीं सदी में पहुंच जाना चाहती है। कहीं यह तेज दौड़ हमारा सन्तुलन न बिगाड़ दे!

६ मार्च १९८८



“विकासवाद के अनुयायी वैज्ञानिक यह कहते हैं कि वेदों को ईश्वर-रचित मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। Trial and Error के सिद्धान्त के अनुसार, जैसे बच्चा गिरते-पड़ते अन्त में चलना सीख ही लेता है, वैसे ही मानव-जाति भी विकास करते-करते वेदज्ञान तक पहुंच जाएगी।

इसके उत्तर में निवेदन है कि मानव में तथा सृष्टि के अन्य प्राणियों में एक बहुत बड़ा अन्तर है। अन्य प्राणियों के गुण-कर्म-स्वभाव जैसे भी होते हैं, जन्म-काल से ही होते हैं। इसीलिए वे जो काम करते हैं, वह पशु-प्रवृत्ति या Animal Instinct कहलाती है। जो मांसाहारी प्राणी हैं, उसके बच्चों को मांस खाना, या जो वनस्पतिभोजी हैं, उनके बच्चों को वनस्पति खाना सिखाना नहीं पड़ता। अपने इस स्वभाव को वे बदल भी नहीं सकते। शेर कभी घास नहीं खाएगा और गाय कभी मांस नहीं खाएगी। इसी तरह भैंस या बत्तख का बच्चा अपने जन्मकाल से ही बिना सिखाए पानी में तैरना जानते हैं, परन्तु आज तक यह कभी नहीं देखा कि किसी बड़े-से-बड़े तैराक का बालक भी बिना सिखाए पानी में तैरना जानता हो। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि मनुष्य का जितना भी ज्ञान है, वह नैमित्तिक है। मनुष्य अपने माता-पिता या साथियों का अनुकरण करके या किसी गुरु के सिखाने से ही सीखता है। यदि मनुष्य-समाज से अलग करके किसी बालक को जानवरों से भरे स्थान में या एकान्त में रख दिया जाए तो उसमें न वाणी का विकास होगा, न अन्य मानवीय ज्ञान का।... जैसे वर्तमान समय में हम अपने गुरुओं से पढ़कर विद्वान् होते हैं, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों को परमात्मा ने वेदों का ज्ञान दिया और उसके बाद से फिर गुरु-शिष्य-परम्परा चल पड़ी। वेद की आवश्यकता ऋषि ने इन शब्दों में प्रकट की है— ‘जैसे माता-पिता अपनी सन्तान पर दया-दृष्टि कर उनकी उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार के भ्रमजाल से छूटकर विद्या-विज्ञान स्वरूप को प्राप्त होकर आनन्द में रहे और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जाएं।’

— ‘चयनिका’, पृष्ठ ६८-६९

अन्धविश्वासों की बाढ़

पहले देश के अधिकांश भागों में भयंकर सूखा पड़ता रहा, पर जब बरसात की झड़ी लगी तो अनेक राज्यों को बाढ़ के संकट ने आ घेरा। यह तो भौतिक धरातल की बात है, जिसमें प्रकृति के पट पर परिवर्तन के साथ इस प्रकार के परिवर्तन आते ही रहते हैं। पर देश का एक मानसिक धरातल भी है, जिसको आज से नहीं, चिरकाल से अंधविश्वासों की बाढ़ ने घेरा हुआ है। बरसात का मौसम खत्म होने पर बाढ़ का संकट तो धीरे-धीरे टल भी जायेगा। पर अंधविश्वासों की बाढ़ ने जिस तरह से देश के सामान्य जन-मन को घेरा हुआ है, वह आसानी से टलने वाला नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि हमारे अधिकांश राजनेताओं का ध्यान इस प्राकृतिक बाढ़ की ओर तो जाता है, परन्तु मानसिक अंधविश्वासों की उस बाढ़ की ओर नहीं जाता, जिसके संकट से प्रायः वे सब भी ग्रस्त होते हैं। कुछ धर्म-नेता तो दिन-रात उन अंधविश्वासों का समर्थन करने में ही अपने कर्तव्य की इति-श्री समझते हैं। क्योंकि उन अन्धविश्वासों के रहते हुए ही इन निहित-स्वार्थ धर्म-नेताओं की स्वार्थ-सिद्धि सम्भव है। जिस दिन भी अंधविश्वास दूर होंगे, उस दिन सबसे पहले वे धर्मनेता ही अर्थहीन सिद्ध होंगे।

कभी-कभी हम बड़े गर्व के साथ यह घोषणा करते हैं कि इस देश में हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक है, वे ८५ प्रतिशत हैं। इसलिये समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक लाभों पर उन्हीं का वर्चस्व होना चाहिये। जिस विशाल हिन्दु-समाज पर हम गर्व करते हैं, वह है कहाँ? अगर वह एक सुसूत्रित, संगठनबद्ध और किन्हीं समान आदर्शों पर चलने वाला एक अनुशासनबद्ध समाज होता, तो क्या इस राष्ट्र को हिन्दु-राष्ट्र बनाने की मांग करनी पड़ती? वह स्वयं एक हिन्दू-राष्ट्र होता ही। पर दुःख इसी बात का है कि हिन्दू-राष्ट्र का द्योतक वैसा संगठित हिन्दू समाज कहीं है नहीं। कहाँ है हिन्दू समाज? वह तो केवल विभिन्न जातिवादी समुदायों में बंटा अल्पसंख्यक वर्गों का एक जमघट-मात्र है। क्षुद्रजातीय भावनाओं, प्रादेशिक भाषाओं और संकीर्ण स्वार्थों से घिरा यह समाज राष्ट्रीय चेतना से शून्य है। हम जिस राष्ट्रीय एकता की कल्पना करते हैं, वह केवल हमारी कल्पना में है, हमारे व्यवहार में नहीं है। इसलिये जब भी कभी राष्ट्रीय एकता

की बात होती है तब ऐसा लगता है जैसे कि वह कोई ऊपर से थोपी जाने वाली चीज़ है, हमारे अन्तःकरण से स्वतः उपजी कोई स्वभाविक अनुभूति नहीं है। आज देश की सबसे बड़ी विडम्बना यही है।

हमारे जितने बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा हुए या अखिल विश्व में ख्याति अर्जित करने वाले विद्वान्, वक्ता और राजनेता हुए, वे सब अपने-अपने अवदानों के लिये इस राष्ट्र में सदा वंदनीय और महनीय रहेंगे। परन्तु उनमें से कितने हैं, जिन्होंने हिन्दू समाज के अंधविश्वासों को या अंधरूढ़ियों को, जिनसे समाज जीर्ण-शीर्ण हो रहा है, तोड़ने को कभी अंगुली भी उठाई हो। उन अंधविश्वासों को हटाये बिना जितने भी राजनैतिक या सामाजिक सुधार हैं, वे सब पतों को सींचने के बराबर रह जायेंगे। इसलिये उस समाज में हरियाली कभी नहीं आयेगी।

कहने को ऐसे अंधविश्वास सारे संसार में हैं, और केवल अनपढ़ लोग ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े विद्वान् और सुशिक्षित लोग भी ऐसे अंधविश्वासों से घिरे हुए हैं। यह शायद उनका अपना दोष न भी हो, क्योंकि वे जिस पुराने संस्कार की जड़ता में पले हैं और बड़े हैं, वहां कभी तर्क और बुद्धि-संगत बातों की हवा पहुंच ही नहीं पाई; और जब हवा पहुंची भी तो वे अपने संस्कारों में इतने जकड़े जा चुके थे कि वे उनकी आदत में शुम्मार हो गये थे; और आप जानते हैं कि आदतों का छूटना आसान नहीं होता।

यहीं से बुद्धिमान समाज-सुधारकों का काम शुरू होता है। यह एक ऐसा संघर्ष है जिसकी कभी अन्तिम सीमा तय नहीं की जा सकती। जब तक मानव-जाति है, तब तक आसान से आसान रास्ते से, कम से कम कष्ट उठाकर, अधिक से अधिक लाभ पाने के लिये, फिर वह लाभ चाहे धार्मिक हो, आध्यात्मिक हो या राजनैतिक हो, मनुष्य की प्रवृत्ति बनी ही रहेगी। यह उसकी मनोवैज्ञानिक दुर्बलता है। इसीलिये जो सरलतम मार्ग से स्वर्ग या मोक्ष पहुंचने का मार्ग बता सके, या चुटकी भर राख से ही असाध्य रोगों का इलाज कर सके, या ग्रहों को मनाकर लॉटरी खुलवा सके, या किसी तंत्र-मंत्र के द्वारा सत्ता के शिखर तक पहुंचा सके, उन धर्म-गुरुओं की पूछ होती है, उन तथाकथित भगवानों के पीछे जनता थोक के भाव से भागती है, और उन भगवानों में भी अपनी सिद्धियों और चमत्कारों के प्रदर्शन की होड़ लगी रहती है। दुनिया का यही क्रम है। एक भेड़िया-धसांध चलती है, और मेरे पीछे तू और तेरे पीछे मैं का एक महा-अभियान चलता है।

गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः।

एक दूसरे की देखा-देखी लोग चलते चले जाते हैं, और वे वास्तविकता को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते। इस दृष्टि से हिन्दू समाज जितना विशाल है, उसके अंधविश्वासों का जाल भी उतना ही विशाल है।

इन अंधविश्वासों की गिनती कहाँ तक गिनायें! कोई अपनी कामना-पूर्ति के लिये मिट्टी और पत्थर के देवता के आगे किसी पशु की बलि चढ़ाता है; कोई किसी दूधमुहे बच्चे का अपहरण कर उसकी हत्या कर उसके ताजा रक्त से अपने माथे पर तिलक लगाता है; कोई अपनी जीभ काटकर देवी की भेंट चढ़ाता है; और कोई किसी तांत्रिक के कहने से अपने सगे बेटे की ही बलि चढ़ाने से बाज नहीं आता। अंधविश्वासों का रंग इतना गहरा होता है कि इस प्रकार के कुकृत्य करने वालों को अपनी आत्मा में कभी अपराध-बोध नहीं होता। इनमें इतनी सामाजिक चेतना ही नहीं होती। इस प्रकार के व्यक्तिगत अंधविश्वासों के अलावा कुछ सामाजिक अंधविश्वास भी होते हैं, जिनके विरुद्ध केवल कानून बना देने से उनको समाप्त नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कानून निरर्थक हैं। उन कानूनों की अपनी उपयोगिता है, परन्तु मूल-समस्या यह है कि उन कानूनों का पालन करवाने की जिम्मेवारी जिनके ऊपर है, उनमें उन्हें लागू करवाने की हिम्मत नहीं है। या शायद लागू करवाने की जिम्मेवारी वहन करने वाले अधिकारियों के मन में भी उन अंधविश्वासों के प्रति कोई कोमल भावना छिपी हुई है, जिसके कारण उनका उल्लंघन करने वालों के प्रति वे कोई कठिन रवैया नहीं अपना पाते। हम सती-प्रथा, बाल-विवाह और छुआछूत को भी ऐसे ही सामाजिक अंधविश्वासों में गिनते हैं।

हाल में ही एक सर्वेक्षण के बाद यह पता लगा है कि इस देश में कम से कम एक करोड़ लड़कियाँ ऐसी हैं, जिनका विवाह ११ वर्ष की आयु से पहले ही हो गया था। बाल-विवाह की यह प्रथा हमने मुगल-काल में सीखी, या किसी और काल में, यह अलग बात है परन्तु यह ऐसी प्रथा है जिसने सारे हिन्दू समाज को दुर्बल बना दिया है। इस सर्वेक्षण से यही पता लगा कि बाल-विवाह का सम्बन्ध अशिक्षा के साथ ही जुड़ा हुआ है। एक कुप्रथा दूसरी कुप्रथा को जन्म देती है। पहले हमने स्त्रियों को शिक्षा से वंचित किया, और उसके बाद अबोध अवस्था में ही उन्हें विवाह के बंधन में बांध कर 'कन्या के पितृत्व के अभिशाप' से मुक्ति पाई, और गंगा-स्नान का पुण्य-लाभ प्राप्त कर लिया। सर्वेक्षण से यह भी पता लगा है कि जो माताएं केवल प्राईमरी तक पढ़ी हैं या अशिक्षित हैं, उनके छः से अधिक बच्चे हैं; और जो माताएं मिडिल कक्षा तक पढ़ी हैं, उनके पांच बच्चे हुए हैं। जो मैट्रिक तक पढ़ी हैं उनके चार, और जो कालेज तक पढ़ी हैं उनके दो बच्चे हुए हैं। इस प्रकार शिक्षा परिवार-नियोजन से किस हद तक जुड़ी हुई है, उसकी कल्पना की जा सकती है। गरीबी और अशिक्षा ये दोनों मिल कर बाल-विवाह का कारण बनती हैं; और सरकार की परिवार-नियोजन-सम्बन्धी सारी योजनायें रखी की रखी रह जाती हैं। सबसे बड़ी दुःख-दायक बात यह है

कि बाल-विवाहों के कारण पैदा हुये बच्चे ही प्रसव-काल में ही मौत के शिकार होते हैं। इस तरह से बाल-विवाह, मानव-हत्या का साधन बनता है।

जिस राजस्थान के एक अग्रणी आर्य समाजी नेता, समाज सुधारक और ऋषि दयानन्द से उसकी प्रेरणा ग्रहण करने वाले श्री हरविलास शारदा ने शारदा-एॅक्ट के नाम से बाल-विवाह के विरोध में सन् १९३० में कानून बनवाया था, उसी राजस्थान में उसका सबसे अधिक उल्लंघन होता है। हर वर्ष अक्षय तृतीया के दिन तो हज़ारों की संख्या में अबोध बालकों और बालिकाओं के विवाह का पर्व भी सिवाय राजस्थान के संसार के किसी और प्रदेश में नहीं मिलेगा। और तो और, स्वयं राजस्थान के एक मंत्री महोदय भी इस कानून का उल्लंघन करने से बाज़ नहीं आये और सरकार ने कोई कदम नहीं उठाया। यदि सरकार स्वयं अपने कानूनों का पालन करने की चिन्ता नहीं करेगी, तो आसमान के देवता तो उसके लिये प्रेरणा करने आने से रहे। इस प्रकार के सामाजिक अंधविश्वासों को बढ़ावा देने में जितना दोष उनका समर्थन करने वाले पुरी के शंकराचार्य जैसे धर्म नेताओं का है, उतना ही बड़ा दोष उन राजनेताओं का है, जो सती प्रथा या छुआछूत या बाल-विवाह विरोधी कानूनों का पालन न करते हैं, न करवाते हैं। समाज को इन दोनों से ही जबाब तलब करना चाहिये।

७ अगस्त १९८८



“सन् १९४४ के जून मास में मेरा विवाह हुआ। समाज-सुधार की दृष्टि से यह क्रान्तिकारी विवाह था। तीस गांवों की पंचायतों ने इस विवाह का बहिष्कार किया था, क्योंकि वे इस अन्तर्जातीय विवाह के विरुद्ध थे। पर मेरे श्वसुर श्री जयदेव आर्य भी कट्टर आर्यसमाजी थे। उनके परिवार की सब कन्याएं कन्या गुरुकुल हाथरस में पढ़ी थीं और सब पुत्र गुरुकुल चित्तौड़ में। जब स्थानीय बिरादरी के लोगों को पता लगा कि विवाह की वेदी पर कन्या घूंघट निकाले बिना बैठेगी और अपने मंत्र स्वयं पढ़ेगी, तो विरोध के बावजूद सब उस विवाह को देखने आए। पड़ौस के मकानों की छतों पर दर्शनार्थियों की भीड़ लग गई। उस समय समाज-सुधारकों के और आर्य-नेताओं के जो सन्देश आए थे, उनको पढ़कर सुनाने में दो घण्टे लगे थे। उसी रात जातपात के विरोध में मेरा सार्वजनिक भाषण हुआ। इस विवाह से स्थानीय आर्यसमाज को और सामाजिक क्रान्ति के पक्षधरों को बड़ा बल मिला और हिन्दू समाज में उनका वर्चस्व बढ़ा।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ३२६

(पण्डितजी के उपदेशक-जीवन के संस्मरणों से उद्धृत)

हम कहाँ हैं?

दक्षिण कोरिया की राजधानी सियोल में ओलम्पिक खेल धूम-धड़ाके से शुरू हो गये हैं। हम भारतवासी जिस आत्म-तुष्टि और आत्मप्रशंसा के वातावरण में जीवन-यापन करते हैं, उनके लिये यह ओलम्पिक समारोह आखें खोलने वाला है। भारत को जगद्गुरु बताते-बताते हम अपनी वर्तमान वास्तविकता को भी देखने का प्रयत्न नहीं करते। हम अभी तक “एतद् देश-प्रसूतस्य” का राग अलापते रहते हैं, और अपने आपको तीसमारखाँ समझते रहते हैं। जो राष्ट्र केवल अतीतजीवी होते हैं, और वर्तमान से आँखें घुराते हैं, ऐसा समझना चाहिये कि उन पर वार्धक्य हावी हो गया है; क्योंकि बुढ़ापे में ही अपना अतीत ही हमेशा स्वर्णमंडित दिखाई देता है।

इन ओलम्पिक खेलों में अमरीका और सोवियत संघ जैसे बड़े देशों की बात छोड़ ही दें तो भी पूर्वी जर्मनी, स्वयं कोरिया, जापान, हॉलैण्ड, बल्गेरिया और क्यूबा जैसे देशों के मुकाबले में भी हमारी अपनी स्थिति क्या है? अमरीका ने इन खेल प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिये जहाँ अपने ६५० खिलाड़ी भेजे हैं और सोवियत संघ ने ४५०, वहाँ अभी जिन देशों के नाम हमने गिनाये हैं, उन्होंने भी भारत से कई गुना अधिक खिलाड़ी भेजे हैं। भारत ले देकर अपने केवल ५३ खिलाड़ी ही भेज पाया है। क्या ८० करोड़ की आबादी के देश के लिये यह लज्जा की बात नहीं है? इन खेलों में भी हमारे पास संसार को चुनौती देने के लिये केवल एक ही खेल बचा था, और उस खेल में कभी सारे संसार ने हमारी धाक मानी थी, क्योंकि अभी तक उसमें आठ स्वर्ण पदक प्राप्त कर चुके थे। वह खेल है— हाकी। किसी जमाने में हाकी और भारत दोनों पर्यायवाची माने जाते थे, पर जिस खेल में हम सिरमौर रहे, उसमें भी अब हम चरण-तल तक पहुँच गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में हम इतने नीचे आ गये हैं कि इस ओलम्पिक में हमारा जाना ही संदेहास्पद हो गया था। परन्तु कुछ महीनों पहले सरकार जागी, हायतौबा शुरू हुई और हाकी के संभावित खिलाड़ियों का चयन करके, उनका प्रशिक्षण प्रारम्भ हुआ। निःसन्देह खिलाड़ियों ने इस एक महीने के प्रशिक्षण में ही अपने प्रशिक्षकों के साथ परिश्रमपूर्वक तैयारी करके देशवासियों की आँखों में एक आशा की झलक

दिखाई थी। परन्तु आखिर एक महीने की तैयारी कितना दमखम पैदा करती? फलस्वरूप हम हाकी के पहले मैच में ही पराजित हो गये, और सोवियत संघ जैसी टीम ने जिसने हाल के कुछ ही वर्षों से हाकी को अपना शुरु किया है, हमको मिट्टी सुंघा दी। हम भारतीय वैसे भी कुछ भावुक प्रकृति के होते हैं, हालांकि खेलों में हार-जीत चलती रहती है, परन्तु एक बार पराजय का मुंह देखने पर जितनी आसानी से हमारे खिलाड़ियों का मनोबल गिर जाता है, वह कोई शोभनीय बात नहीं है।

हमारे साथ ही कई बार हाकी की विश्वचैम्पियन रही पाकिस्तान की टीम भी एकदम हमारे जैसी—बल्कि हमसे नीचे की स्थिति पर पहुंच चुकी थी, पर उसने पुनः जीवन प्राप्त किया, और ऐसा जीवट जुटाया कि जिन टीमों से वह पराजित हो चुकी होती है, अन्त में उन्हीं टीमों को पराजित करके दम लेती है। क्या यह आक्रामकता मुस्लिम मनोवृत्ति की निशानी है? जो भी हो परन्तु हिन्दुत्व की भावुकता का बहाना लेकर अपने आपको सही साबित करना संसार में जीने का रास्ता नहीं है। संसार तो समर-क्षेत्र है, और इस मैदान में “वीर-भोग्या वसुन्धरा” की कहावत ही चरितार्थ होती है। हम भारतवासियों की मानसिकता तो ऐसी है कि हमने श्रीमद्भगवत् गीता जैसे युद्ध-क्षेत्र के काव्य को भी मरणासन्न व्यक्ति के पास बैठकर गीता-पाठ के द्वारा, किसी प्रकार उसके शब्द मृत्यु की देहली पर खड़े व्यक्ति के कानों में डालकर समझते हैं कि अब उसके लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

ओलम्पिक खेलों को छोड़ भी दें तो एशियाई खेलों में भी हम अपने महादेश के अनुरूप अपना वर्चस्व स्थापित नहीं कर सकेंगे। खेलों में चीन, जापान, उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया तक हमसे आगे हैं। और कभी-कभी तो हम ईरान और थाईलैण्ड जैसे छोटे देशों से पिछड़ गये हैं। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय खेलों के बाद हमेशा कभी अपने खेल-संघों को दोष देते हैं, कभी खेल की राजनीति को, कभी अपने खिलाड़ियों को, और कभी-कभी तो उन्मत्त-प्रलाप की तरह यह बात भी सुनने में आती है कि भारतवासियों की नस्ल ही कमजोर है। यह कभी विजयी नहीं बन सकती।

हमारे अधिकांश देशवासी वस्तुस्थिति से परिचित नहीं हैं, या परिचित होकर भी वे उसका सामना करने को तैयार नहीं हैं। खेल की क्यों? हमारे किसान भी किसी से कम मेहनती नहीं हैं, फिर भी क्या कारण है कि हमारी खेती की पैदावार अधिकांश देशों से बहुत पिछड़ी हुई है? गावों की जितनी दुर्गति हमारे देश में है, उतनी और किसी देश में है? आश्चर्य तब होता है जब गौरवकों का देश, गौभक्षकों के देश से दुग्धदूध और बटर—आयल खैरात में मांगता है।

हमारे देश की सरकार कैसी विचित्र है? इस प्रकार दान में मिले बटर आयल को भी सरेआम बाजार में बेचकर पैसा कमाती है, और उसमें इसे कोई अनैतिकता प्रतीत नहीं होती।

हमारे देश में छः लाख प्राइमरी स्कूल हैं, डेढ़ लाख मिडिल स्कूल हैं, और सत्तर हजार हाई स्कूल या हायर सैकेंडरी स्कूल हैं। किन्तु इनमें से दो प्रतिशत स्कूलों में भी खेलों के लिये मैदान नहीं हैं। और जहां कहीं मैदान हैं भी, वहां खेलों का सामान नहीं है। और कहीं खेलों का सामान भी है तो वहां खेल-प्रशिक्षक रखने का सामर्थ्य कितने स्कूलों का है? हमारे यहां १५० विश्वविद्यालय हैं। परन्तु किसी में भी हाकी, फुटबाल, बासकेट बॉल और हैण्ड बाल के खिलाड़ियों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के उपकरणों की सुविधा नहीं है। हमारे देश में ५००० कॉलेज हैं, परन्तु किसी भी कॉलेज या विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के खेलों के लिये कहीं समुचित व्यवस्था नहीं है। हॉलैण्ड जैसे छोटे से देश में हॉकी खेलने के लिये तीन सौ से अधिक ऐंस्टार्टर्फ घास के मैदान हैं, जबकि हमारे इतने बड़े देश में मुश्किल से केवल तीन या चार मैदान होंगे।

लोकसभा की आकलन समिति ने अप्रैल १९८८ में जो रिपोर्ट दी थी, उसमें उसने कहा था कि हमारे देश में खेलों और शारीरिक शिक्षण के लिये जितनी राशि खर्च की जाती है, वह संसार में सबसे कम है। प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं में हम खेलों पर औसतन प्रतिवर्ष ४० लाख रुपये खर्च करते रहे, जो प्रतिव्यक्ति के हिसाब से केवल आधा पैसा बैठता है। इस आधे पैसे की बदौलत हम उन देशों का मुकाबला करना चाहते हैं, जो प्रति व्यक्ति सौ० रुपये से लेकर तीन सौ रुपये तक खर्च करते हैं। यह ठीक है कि छठी और सातवीं योजना में यह राशि बढ़ाकर दो अरब तक कर दी गई, परन्तु उसका भी अधिकतम व्यय खेलों पर उतना नहीं होता, जितना खेल अधिकारियों और राष्ट्रीय खेल-संस्थाओं के तामझाम पर खर्च होता है। ले-देकर खेलों पर खर्च करने के लिये केवल दस करोड़ रुपया बचता है। ऊंट के मुंह में जीरे के बराबर इस राशि से आप खेलों का कितना विकास करेंगे?

हमारे देश के युवक डॉक्टर, इंजीनियर, मैनेजर, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट या औद्योगिक प्रबन्धक बनना चाहते हैं, खेलों को अपना कैरियर बनाने की इच्छा कहीं दिखाई नहीं देती, क्योंकि इसमें उनको अपना भविष्य उज्ज्वल नहीं लगता। अंग्रेजों के समय से क्रिकेट को जिस ढंग से प्रोत्साहन दिया जाता रहा है, और जिस तरह से अब टेनिस को प्रोत्साहन दिया जाता रहा है, इसकी और भले ही कुछ लोग आकर्षित हो जायें, क्योंकि उनमें प्रचुर पैसा दिखाई देता है। परन्तु अन्य खेलों की निरन्तर उपेक्षा ही होती है। अस्सी करोड़

की आबादी के देश में एक प्रतिशत लोग भी ऐसे नहीं हैं, जो खेलों के मैदान में जा सकें, या उसकी सुविधा प्राप्त कर सकें। जितना गुड़ डालेंगे उतना ही मीठा होगा। केवल मीठे का नाम जपते रहने से, और औरों को कोसते रहने से तो अपनी चाय मीठी होने से रही।

२५ अक्टूबर १९८८



संस्कृति

भूभाग तो 'राष्ट्र' का शरीर—मात्र है, उसकी आत्मा तो है उसकी संस्कृति। ऋषि—दृष्टि में वह संस्कृति है— 'वैदिक संस्कृति', अर्थात् वेद पर आधारित संस्कृति। अन्य राष्ट्रचेता व्यक्ति उसे भारतीय संस्कृति या सम्मिश्र संस्कृति (Composite culture) कहते हैं। इनके अनुसार इस देश में केवल आर्य संस्कृति नहीं; अनार्य, मुगल और आंग्ल संस्कृतियों का भी घोलमेल है, इसलिए केवल वैदिक संस्कृति या वेद की बात करना अनुचित है, पर मैं इससे सहमत नहीं हूँ।

मेरा तर्क है— 'गंगोत्री और गोमुख से निकलने के बाद गंगा ज्यों—ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों—त्यों उसमें अन्य नदी—नाले, कारखानों के उच्छेद और तटवर्ती नगरों के मल—मूत्र से भरे गन्दे नाले भी गिरते चले जाते हैं। कलकत्ता पहुंच कर तो उसका नाम भी बदल जाता है — वहां वह 'हुगली' कहाती है। पर प्रदूषण तो प्रदूषण है। रंग—रूप, स्वच्छता, तासीर और नाम बदल जाने पर भी वह तब तक गंगा ही रहेगी, जब तक गंगोत्री का स्रोत अक्षुण्ण है। इसलिए जिसे हम सम्मिश्र संस्कृति कहते हैं, वह तो प्रदूषण की परिचायक है। असली संस्कृति तो वैदिक संस्कृति है, वही इस भूखण्ड में चैतन्य भरती है।"

जब भी प्रदूषण—रहित गंगा की खोज होगी, तब सब मतों की गंगोत्री — वेद को ही प्रामाणिक मानना होगा।

'आप्त राष्ट्र-पुरुष', पृष्ठ २३

तलवार नहीं कलम

कहते हैं एक बार भारत-पाक सीमा पर दो कुत्ते मिले। पाकिस्तानी कुत्ता खूब दृष्ट-पुष्ट और भारतीय कुत्ता मरियल किस्म का। चिरकाल के वियोग के पश्चात् दोनों कुत्ते अपने जातीय स्वभाव के विरुद्ध आपस में मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। भारतीय कुत्ते ने पाकिस्तानी कुत्ते से पूछा - कहो, कैसी गुजर रही है? पाकिस्तानी कुत्ते ने कहा- खाने-पीने की खूब मौज है। भारतीय कुत्ता बोला - यह तो तुम्हें देखकर ही पता लग जाता है। फिर कुछ आजीजी के साथ उसने कहा - किसी तरह मुझे भी अपने यहां बुला लो। यह सुनकर पाकिस्तानी कुत्ता उदास हो गया और बोला - आ तो सकते हो तुम, पर ज़रा... भारतीय कुत्ते ने पूछा पर ज़रा क्या? पाकिस्तानी कुत्ते ने कहा कि वहां और तो सब चीजों की मौज है, परन्तु एक ही कष्ट है, पाकिस्तान में भौंकने की आज़ादी नहीं है। भारतीय कुत्ते ने अपनी पूंछ हिलाकर सलाम बजाते हुए कहा तब तो भैया तुम्हारा पाकिस्तान तुम्हें मुबारक हो, हम अपने भारत में ही ठीक हैं। कम से कम यहां हमारी जुबान पर तो प्रतिबन्ध नहीं है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतन्त्र का प्राण है। लोकतन्त्र की शर्त ही यह है कि जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिये शासन (ऑफ दी पीपल, बाई दी पीपल, फॉर दी पीपल)। इसमें शासन इतना मुख्य नहीं, जितनी जनता मुख्य है। शासन को कदम-कदम पर जनता की अनुमति से ही चलना होगा। अगर लोकबल उसके साथ नहीं है, तो चाहे कितना ही अच्छा शासन क्यों न हो, वह लोकतन्त्र नहीं कहलाता। इसीलिये तो कहा है - "स्वराज्य सुराज्य से बढ़कर है" (ए गुड गवर्नमेंट इज़ ए नो सब्स्टीट्यूट ऑफ सैल्फ गवर्नमेंट)। स्वराज्य में जो "स्व" शब्द पड़ा है, उसके पीछे यही भाव छिपा है कि जिस राज्य में जनता को अपने "स्व" की अनुभूति न हो, वह स्वराज्य नहीं है। व्यक्ति की यह अस्मिता ही लोकतन्त्र का प्राण है, और वही स्वराज्य का "स्व" है। व्यक्ति जब तक जीवित रहता है, तब तक अपनी इसी अस्मिता के लिये संघर्ष करता रहता है; और जहां उसकी अस्मिता सार्थक होती है, वहीं वह आश्वस्त होता है।

क्या आप देखते नहीं कि जिन देशों में पूंजीवादी, साम्राज्यवादी या समाजवादी, अधिनायकवाद इतने वर्षों तक रहा, अब वे सब धीरे-धीरे लोकतंत्र के लिये लालायित दिखाई देते हैं। ब्रिटेन का साम्राज्यवाद कभी का समाप्त हो चुका है। सोवियत संघ का समाजवादी, अधिनायकवाद गोर्बाचौफ के युग में अपनी अन्तिम सांसें गिन रहा है। ईरान का धार्मिक अधिनायकवाद मोहम्मद की स्थिति में है। बर्मा की युवा-पीढ़ी लोकतंत्र के बिना अन्य किसी भी खिलौने से बहलाये जाने के लिये तैयार नहीं है। अफ्रीका महाद्वीप के जो देश इतने सालों तक औपनिवेशिक अधिनायकवाद के शिकार रहे, वे कभी से अपनी जंजीरे तोड़कर विद्रोह के पथ पर अग्रसर हैं। पाकिस्तान में जिया के पुतले जलाये जाते थे, और बांग्लादेश में इरशाद के पुतले जलाये जाते हैं। आखिर क्यों? केवल इसीलिये न कि इन अधिनायकवादियों के रहते जनता की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता कुचली जा रही थी। आदमी भूखा रहकर भी अपनी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहता है। इसी में तो उसकी अस्मिता की सार्थकता है। अपनी अनेक दुर्बलताओं के बावजूद भारत अभी तक संसार की आंखों में इसीलिये चढ़ा हुआ है क्योंकि यहां गत ४१ वर्षों से लोकतंत्र सफलतापूर्वक चल रहा है। “संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्र”- यह विरुद्ध भारत को अकारण नहीं मिला है। हम अपने देश के शासन से, उसकी नीतियों से, उसकी कारगुजारियों से और राजनेताओं की अपरिपक्वता से असन्तुष्ट हो सकते हैं, परन्तु असन्तोष को व्यक्त करने के लिये हमको अपनी जुबान पर लगाम स्वीकार नहीं।

पिछले दिनों भारत सरकार को बोफोर्स काण्ड, हैलिकोप्टर-काण्ड तथा अन्य अनेक काण्डों के कारण, लोकतंत्र के चौथे स्तम्भ - अखबारों द्वारा भण्डाफोड़ किये जाने से जिस बदनामी का शिकार होना पड़ा, उसके प्रतिकार के लिये सरकार ने मानहानि-बिल संसद में पेश किया, और लोकसभा में फटाफट अपने प्रबल बहुमत के रोलर के आधार पर स्वीकार भी करवा लिया। परन्तु तभी लोकतंत्र का यह चौथा स्तम्भ सोते-सोते जाग उठा और उसने उस बिल के विरोध में अपने अन्तःकरण की आवाज के अनुसार शोर मचाकर इस प्रकार ज़मीन-आसमान एक कर दिया कि सरकार की नींद हराम हो गई, और अन्त में प्रधानमन्त्री ने २१ सितम्बर को पंजाब से लौटते ही रात को ११ बजे मन्त्रीमण्डल की विशेष बैठक बुलाकर इस काले बिल को वापस लेने का फैसला किया।

इसमें किसकी विजय हुई और किसकी पराजय, इसका प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल इतना ही है कि जो लोकतंत्र भारतीय जनता के अभिमान का विषय है, वह लोकतंत्र धराशायी होने से बच गया। इसे एक तरह से भारतीय जनता के अन्तःकरण के बद्धमूल लोकतन्त्रात्मक संस्कारों की विजय समझना चाहिये, किसी

व्यक्ति-विशेष या वर्ग की नहीं? इन्दिरा गांधी ने अपने समय में आपातकाल की घोषणा करके लोकतन्त्र के हनन का प्रयास किया था, और शीघ्र ही उसे अपनी गलती महसूस हो गई, और उसने आपातकाल हटाकर आम चुनाव की घोषणा कर दी। भले ही इस कदम से उसे व्यक्तिगत रूप से दुर्दिन देखने पड़े। परन्तु लोकतन्त्र के प्रति इसी आस्था के कारण वह पुनः जनता की आंखों में चढ़ी, और जनता पार्टी की साख पर उसने अपनी विजय का झण्डा गाड़ा। यह भी उन्हीं लोकतन्त्रीय भारतीय संस्कारों की विजय है।

लोकतन्त्र में चाहे समाचार-पत्र हों और चाहे सरकार हो, इन दोनों की जिम्मेवारी एक-दूसरे के प्रति इतनी नहीं होती जितनी जनता के प्रति होती है, क्योंकि लोकतन्त्र में जनता ही तो राजा है। इसलिये व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के नाम पर सरकार द्वारा इस मानहानि बिल को लाया जाना एक बुनियादी गलती थी, क्योंकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकती। व्यक्ति जितना वैयक्तिक मामले में स्वतन्त्र है, उतना ही समाज के हितकारी नियमों में परतन्त्र भी है। इसका जैसा स्पष्टीकरण ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज के दसवें नियम में किया है, वैसा आज तक कहीं अन्यत्र दिखाई नहीं दिया। ऋषिवर लिखते हैं — “सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।”

जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सर्वहितकारी सामाजिक स्वतन्त्रता की परवाह नहीं करती, वह अन्ततः अधिनायकवाद को ही जन्म देती है। व्यक्ति समाज का एक अंश है। वही अंश से ऊपर नहीं है। राजीव गांधी किन व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये इस बिल को लाना चाहते थे? उन व्यक्तियों के लिये जो समाज की दृष्टि में गिर चुके हैं, भ्रष्टाचारी हैं, स्वदेश का पैसा विदेश भेजने के अपराधी हैं, फ़ेरा कानून का उल्लंघन करने वाले हैं और विदेशी सौदों में दलाली खाने के आरोपों से घिरे हैं? लोकतन्त्र का यह अर्थ कब से हो गया कि समाज की ओर से जिन व्यक्तियों को दण्डित होना चाहिये, आप उन व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये समाज की आवाज पर और पत्रकारों की कलम पर प्रतिबन्ध लगाना चाहते हैं? प्रधानमंत्री जी! फिर आपने लोकतन्त्र की भावना को ही नहीं समझा।

जनता को सच्चाई जानने का अधिकार है। जिस तरह सरकार जनता के प्रति जिम्मेवार है, उसी तरह अखबार भी जनता के प्रति जिम्मेवार हैं। यदि कोई बात सरकार जनता से छिपाना चाहे, और अखबार उस बात को सरे आम उभारना चाहें, तो यह अखबारों का नैतिक कर्तव्य है। यदि सरकार ने जनता के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया तो क्या अखबार भी न करें? और यदि अखबार ऐसा करें तो आप इस बिल के द्वारा उनको जेलों की सींकड़ों में खड़े कर दें? आपको शायद

भारतीय समाचार-पत्रों के स्वाभिमान की परम्परा का स्मरण नहीं है। सच बात तो यह है कि देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई कांग्रेस के नेताओं ने नहीं, देश के समाचार-पत्रों ने लड़ी। इस देश में ऐसे समाचार-पत्र भी रहे हैं जिनके प्रत्येक सम्पादक को राजद्रोह के अभियोग में जेलखाने की हवा खानी पड़ी और फिर भी, ऐसे पत्रों को, पीछे से कभी सम्पादकों की कमी नहीं पड़ी। सिर पर कफ़न बांधने वाले क्रान्तिकारियों की तरह यहां सिर के मोल पर भी कभी कलम न बेचने वाले पत्रकारों की कमी नहीं रही। आप क्या सोचते हैं कि आप अपने बहुमत के रोलर के आधार पर इस बिल को पास करवा लेते, तो सब समाचार-पत्र अपनी जबान सींकर बैठ जाते? अच्छा हुआ, आपका मुग़ालता जल्दी दूर हो गया, और आपने बिना शर्त यह मानहानि बिल वापस ले लिया और पत्रकारों को पुनः स्वतन्त्रता-संघर्ष के दिनों का बिगुल बजाने का अवसर नहीं दिया। नहीं तो हमको पूरा विश्वास है कि यह बिल पास होकर भी कभी अपनी सार्थकता सिद्ध न कर पाता और एक के बाद एक स्वतन्त्र कलम पकड़े, अपनी अभिव्यक्ति की अस्मिता के लिये संघर्ष करने वाले पत्रकार आपके द्वारा लगाई गई सूली पर चढ़ने को तैयार रहते। पत्रकारों को कसने की बजाय राजनेताओं को पहले अपनी शकल आड़ने में देख लेनी चाहिये। उनको याद रखना चाहिये कि जो राजनेता जनता की दृष्टि में संदिग्ध चरित्र का हो जाता है, (फिर भले ही वह वैसा न हो), वह कभी शासन नहीं कर सकता। राजनेता को न केवल स्वयं ईमानदार होना चाहिये, बल्कि जनता उसकी इमानदारी पर विश्वास कर सके, यह भी उतना ही आवश्यक है। जिसे अंग्रेज़ी की कहावत में कहा गया है — “सीज़र की पत्नियों को संदेह से ऊपर होना चाहिये”, वह अकारण नहीं है। जहां एक आड़ना आपके सामने है वहां दूसरा आईना जनता के सामने भी है, और इन दोनों आईनों में आपकी छवि कैसी है, इसकी जिम्मेवारी स्वयं आपको ही संभालनी होगी। यह अखबारों के मुंह पर ताला लगाकर पूरी नहीं की जा सकती।

२ अक्टूबर १९८८



“उनकी भाषा में अद्भुत चित्रात्मक शक्ति थी। क्षितीश जी के आने से ‘आर्य-जगत्’ में चमक उत्पन्न हो गई। वैविध्यपूर्ण लेखों के अतिरिक्त उनके सम्पादकीय विशेष आकर्षण का विषय हैं।... क्षितीश जी ने ‘आर्य-जगत्’ में एक तटस्थ सम्पादकीय धर्म का निर्वाह किया है। सभी आर्यसमाजियों व हिन्दू-विचारधारा के हृदयों पर उनका आधिपत्य है।”

—स्व० डॉ० प्रशान्त वेदालंकार

७/२ रूपनगर दिल्ली

खाली हाथ, भरे दिल

दक्षिण कोरिया के खेल-अधिकारियों ने पता नहीं क्या सोचकर यह दिन तय किया था। परन्तु जिस दिन सारे भारत में और संसार के अन्य अनेक देशों में गांधी-जयन्ती मनाई जा रही थी, उसी दो अक्टूबर को वहां धूमधाम से ओलम्पिक खेलों का समापन-समारोह हो रहा था। शायद ओलम्पिक खेलों का किसी एशियाई देश में और वह भी दक्षिण कोरिया जैसे एक अत्यन्त छोटे से देश में होने वाला पहला ओलम्पिक खेल था। परन्तु इस बार भी अपनी पुरानी परम्परा को कायम रखते हुए अनेक विश्व-रिकार्ड टूटे और कई नये ओलम्पिक-रिकार्ड स्थापित किये गये। अहिंसा के अवतार महात्मा गांधी के जन्म दिन के उपलक्ष्य में पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करते हुए भारतीय खिलाड़ी भी खाली हाथ वहां से लौट आये। क्या इससे बढ़कर अहिंसा का उदाहरण कोई और देश पेश कर सकता है। अस्सी करोड़ की आबादी का यह महान् देश अपनी तटस्थ नीति, अपने उच्च आदर्शों, विश्वशान्ति, योगविद्या और बृहत्तम लोकतंत्र का उदाहरण उपस्थित करने वाला यह अपना प्यारा वतन जिस शान से खाली हाथ लौट आया, उस पर समस्त भारतवासियों के सिर लज्जा से झुके हैं। खिलाड़ियों के हाथ खाली हैं और देशवासियों के दिल भरे हैं। और नमी-भरी अपनी आंखों पर बार-बार हाथ फेरते हुए सभी देशवासी अपने आपसे यह प्रश्न कर रहे हैं कि संसार के मानचित्र में इतना बड़ा भूखण्ड छेकने पर भी हमारा अस्तित्व कहाँ है?

इन ओलम्पिक-खेलों की ज़रा पदक-तालिका पर दृष्टि डालिये। कुल ७३६ पदकों में से २४९ स्वर्ण-पदक हैं, २३४ रजत पदक हैं और २६४ कांस्य पदक हैं। सारे स्वर्ण-पदकों की तालिका पर नज़र डालिये और देखिये कि क्या उसमें कहीं भारत का नाम है? हां उसमें अनेक छोटे-छोटे देशों के नाम हैं। सोवियत संघ और अमरीका को छोड़ भी दें, क्योंकि वे महाशक्तियां हैं, परन्तु पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी, स्वयं दक्षिण कोरिया, हंगरी, बुल्गारिया, रोमानिया, केनिया, जापान, नारवे, डेनमार्क, फिनलैण्ड, तुर्की, मोरक्को, आस्ट्रीया, सूरीनाम जैसे छोटे-छोटे देशों के नाम भी आ गये हैं, और वे जैसे हमें मुंह चिढ़ा रहे हैं। हमने बड़े देशों के नाम जानबूझ कर नहीं लिये, लेकिन जिन छोटे-छोटे देशों ने भी किसी न किसी खेल

में स्वर्ण—पदक प्राप्त कर लिया है, उन देशों के खिलाड़ी, अपने देश की जनता के सामने कुछ तो सुरखरु हो जायेंगे।

अब आइये रजत—पदक—तालिका पर। इसमें भी लगभग वही हालत दिखाई गई है। सोवियत संघ ने यदि स्वर्ण—पदकों में शिखरस्थ स्थान पाया है, तो रजत—पदकों में पूर्वी जर्मनी जैसे छोटे से देश ने उसको पीछे छोड़ दिया है। और फिर अनेक छोटे—छोटे देशों का स्थान उसमें दिखाई दे जाएगा। इन रजत—पदक प्राप्तकर्ताओं में बेल्जियम, बर्जिनाईलैण्ड, सेनेगल, कोस्टारिका, जमाइका, स्वीट्जरलैण्ड जैसे छोटे—छोटे देश भी शामिल हैं। परन्तु इस रजत पदक तालिका में भी भारत का स्थान कहीं नहीं है। अब तीसरे नम्बर पर रहा कांस्य पदक। तो यहां भी जिन देशों के पहले नाम गिनाये जा चुके, अधिकांश उन्हीं देशों के नाम फिर दोहराने पड़ेंगे। पूरी तालिका देने का हमारा कोई अभिप्राय नहीं है, परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य अवश्य है कि थाईलैण्ड, फिलीपिन, मंगोलिया, ग्रीस, जीबोती और कोलम्बिया जैसे छोटे—छोटे देश भी कम से कम एक कांस्य—पदक तो ले ही गए। पर हाय, हम इन लेने वालों में भी कहीं नहीं है। क्या हाथों के इस विराट खालीपन को देखकर आपका दिल भर नहीं आता?

हाकी पर हमें बड़ा गर्व था, किसी जमाने में भारत और हाकी पर्यायवाची माने जाते थे। हमने ब्रिटेन से गुलामी के तौर के रूप में हाकी सीखी, और उसके बाद उसमें अपनी कलाईयों की कला जोड़कर न केवल अपने आका ब्रिटेन को, बल्कि संसार के दिग्गज हाकी खिलाड़ी देशों को हमने कितनी बार जमीन सुंघाई। परन्तु आजादी क्या आई कि हम अपनी गुलामी की इस कला की महारत में भी पिछड़ गये। राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से हमारे गुरु ने ब्रिटेन के रूप में ६८ साल के बाद, न केवल भारत को पराजित किया, प्रत्युत अन्य सब विश्व—चैम्पियन कही जाने वाली टीमों को भी परास्त करके ओलम्पिक का स्वर्ण—पदक हथिया लिया। कहने को हम कह सकते हैं कि जिस ब्रिटेन से सेमीफाइनल में हम हारे, वही ब्रिटेन अन्त में फाइनल में जीता, तो उसमें कौन से आश्चर्य की बात है? शायद हमारे लिये यह भी एक सन्तोष की बात रही हो कि हम हार गये तो क्या हुआ, पाकिस्तान भी तो हार गया। आजादी प्राप्त करने के पश्चात् कभी वह भी तो विश्व—विजेता रहा था। असल में दूसरे की कटी नाक का खून देखकर आदमी अपनी नाक कटने के दुःख को भूल जाना चाहता है, परन्तु इससे नाक वापस थोड़े ही आ जाती है। इस बार ओलम्पिक में दुःख की बात केवल यही है कि जिस हाकी में संसार ने कभी एशिया को कुशल जानकर उसका लोहा माना था, आज यूरोप की टीमों ने उस आदर को धूलिसात कर दिया। खेलों के नियम, खेलों की तकनीक और एस्ट्राट्रफ के मैदानों के रूप में जिस तरह नये—नये परिवर्तन आते चले जा रहे

हैं, और पश्चिम के लोग अपनी सुविधाओं की दृष्टि से खेल के नियमों में परिवर्तन करते चले जाते हैं, उसको देखकर यह कहना शायद शेखचिल्ली का सपना लगे कि एशिया कभी फिर यूरोप पर अपनी हाकी की धाक जमा सकेगा।

पर इन खाली हाथों को देखकर हम शर्मिन्दा नहीं हैं। इस बार के ओलम्पिक ने हमको आइने के सामने खड़ा कर दिया है, और अपनी शक्ल देखकर अपने आपको पहचानने का अवसर दिया है। खेलों में विजय प्राप्त करना किसी जादू या तंत्र-मंत्र का काम नहीं है। कुछ लोग मज़ाक में यह भी कहते हैं कि इस बार के ओलम्पिक खेलों में यदि कुर्सी-दौड़ की प्रतियोगिता रखी जाती, तो उसमें भारत अवश्य स्वर्ण-पदक प्राप्त कर लेता। परन्तु इस भरे दिल वाली हालत में हमको इस व्यंग्य का भार भी सहन नहीं। हम तो केवल यह कहना चाहते हैं कि वाटरलू के मैदान में जिस अंग्रेज सेनापति ने विश्व-विजेता का स्वप्न देखने वाले फ्रांस के महान सेनापति नेपोलियन को पराजित किया था, उसका यह कथन खिलाड़ियों को कभी नहीं भूलना चाहिए कि नेपोलियन को हराने की यह कुशलता मैंने खेल के मैदान में प्राप्त की। इससे खेल के मैदान का महत्त्व पता लगता है। अनुशासन, आत्मनियंत्रण, टीम-स्पिरिट, एकाग्रता और शारीरिक दम-खम का जैसा सिखैया खेल का मैदान है, वैसा और कोई नहीं। हमारे बच्चों के बस्ते आजकल चार पांच साल की उम्र से ही भारी होने लगते हैं, और दिन पर दिन भारी होते चले जाते हैं। ज्यों-ज्यों बस्ते भारी होते जाते हैं, त्यों-त्यों खेल के मैदानों की उपेक्षा होती जाती है। जो देश केवल बौद्धिक दैत्य तैयार करना चाहता है, वह अन्त में सब जगह मात खायेगा। क्योंकि स्वस्थ शरीर ही स्वस्थ मन और स्वस्थ बुद्धि का उचित निवास बन सकता है। हमारी सरकार और हमारी जनता यह कब समझेगी?

६ अक्टूबर १९८८



‘वे गम्भीर से गम्भीर और सहज-सरल हल्के हास्य-व्यंग्य के लेख लिखने में भी इतने सिद्धहस्त हैं कि उनकी कला पूर्णतः मुखरित और विकसित दृष्टिगत होती है। विभिन्न सामयिक, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक घटनाओं के अनुशीलन-परिशीलन में भी उनकी लेखनी अपनी पूर्ण तेजस्विता दिखाती है। वे जितने सुन्दर ‘लेखक’ हैं, उतने ही प्रखर ‘वाग्मी’ भी हैं।’

-पद्मश्री, क्षेमचन्द्र ‘सुमन’, दिल्ली

लोकतंत्र की शर्त

आजकल सारे संसार में जिस प्रकार लोकतंत्र की ललक है, वैसी किसी अन्य शासन प्रणाली की नहीं है। यह आधुनिक युग की प्रगतिशील भावना का ही परिचायक माना जाता है क्योंकि संसार अपने सुदीर्घ इतिहास में अनेक प्रकार की शासन प्रणालियों की परीक्षा करते-करते अन्त में इस परिणाम पर पहुँचा है कि यही प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। लोकतंत्र के आदर्शों के अनुसार पूर्ण लोकतंत्र किसी देश में है या नहीं, इस पर मतभेद हो सकता है, परन्तु इस प्रणाली की श्रेष्ठता एक तरह से अब विवाद से परे समझी जाती है। राजतंत्र, अधिनायक-तंत्र, सामन्त-तंत्र, पोप-तंत्र, खलीफा-तंत्र और गुरुडम-तंत्र से गुजरते-गुजरते दुनिया अन्त में उन सब शासन-प्रणालियों से तंग आकर इस परिणाम तक पहुँची है। अन्य शासन प्रणालियों का इतिहास जैसा भी रहा हो — भला या बुरा — उसकी चर्चा अप्रासंगिक है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि अब संसार की जनता उन सब तंत्रों से ऊब चुकी है, और वह लोकतंत्र की ओर ही आशा भरी दृष्टि से देखती है।

इसका कारण यह है कि लोकतंत्र के माध्यम से मानवीय अस्मिता की जैसी पुष्टि होती है, वैसी किसी अन्य तंत्र के माध्यम से सम्भव नहीं है। आदमी भले ही भले या बुरे हों, परन्तु वे अपनी अस्मिता को छोड़कर जीना नहीं चाहते। संसार गुणदोषमय है। सर्वथा गुणों से सम्पन्न और सर्वथा दोषों से समन्वित व्यक्ति की कल्पना करना भी उचित नहीं होगा। अच्छे से अच्छे आदमी में भी आपको कोई न कोई दोष दिखाई दे जायेगा। और दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति में भी आपको कहीं कोई गुण दिखाई दे जायेगा। इसलिये नीतिकारों ने कहा है—

दृष्टम् किम् अपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।

इस संसार में सर्वथा निर्दोष कोई नहीं है और सर्वथा निर्गुण भी कोई नहीं है। तभी तो अपनी द्विधात्मकता के कारण यह संसार जीने के योग्य बनता है। अन्यथा एकरसता से सशबेर सर्वथा नीरस होकर जीवन जीने के योग्य नहीं बन पाता। फिर मानव जीवन की यह भी विशेषता है कि जन्म लेते ही उसे अपने अस्तित्व का केवल आभास ही नहीं होता, बल्कि वह अन्यो को भी अपने अस्तित्व का आभास दिलाना चाहता है, और तभी उसके मन के अन्दर अपनी अस्मिता का भाव प्रकट

होता है। अपनी अस्मिता खोकर कोई व्यक्ति जीना नहीं चाहेगा। वही अस्मिता लोकतंत्र प्रणाली में ही अपनी सार्थकता पाती है।

भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, और अपनी अनेक कमियों के बावजूद वह अन्य अनेक अलोकतांत्रिक देशों की ईर्ष्या का विषय है। इसलिये इस सम्बन्ध में भारत का उत्तरदायित्व भी सबसे अधिक है। हमारा देश लोकतंत्र के इस महान् परीक्षण के दौर से गुजर रहा है, इसलिये संसार की आंखें इसकी ओर लगी हुई हैं। अगर यह परीक्षण यहां असफल हो गया तो संसार की निराशा का ठिकाना नहीं रहेगा, और तब शायद लोकतंत्र-प्रणाली का ही संसार के घरातल से चिरकाल के लिये लोप हो जाये। वह दुर्भाग्य का दिन न आवे इसलिये अब हमारी जिम्मेवारी और अधिक बढ़ जाती है। संसार हमारी ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है, केवल इसलिये नहीं, बल्कि अपने देश की जनता भी उतनी ही आशा और निराशा के भंवर में पड़ी डांवाडोल हो रही है, इसलिये भी लोकतंत्र की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। हमारे देश की जनता के जीवन का आधार भी तो वही है।

लोकतंत्र की सबसे बड़ी शर्त है—नैतिकता। वैसे तो बिना नैतिकता के कोई भी शासन-प्रणाली समर्थन के योग्य नहीं होती, परन्तु लोकतंत्र की प्रणाली तो बिना नैतिकता के एक कदम भी नहीं चलती। वह नैतिकता भी केवल कथनी में नहीं, बल्कि करनी में भी उतनी ही आवश्यक है। हमारे देश के नेताओं ने जो संविधान बनाया है, उसमें इस बात का पूरा ध्यान रखा है, और नैतिकता के मापदण्ड की तुला पर उसे पूरा उतारने की भरसक कोशिश की गई है। इसीलिये 'सत्यमेव जयते' को अपना आदर्श-वाक्य बनाया गया है, क्योंकि नैतिकता का सबसे बड़ा आधार सत्य ही है। परन्तु यह नैतिकता केवल जनता के लिये नहीं, नेताओं के लिये भी उतनी ही आवश्यक है। जब नेता लोग नैतिकता के सब मापदण्डों से अपने आपको ऊपर समझने लग जाते हैं, और जनता से नैतिकता की आशा करते हैं, तब लोकतंत्र की आंखों में आंसू आये बिना नहीं रहते। नैतिकता ऐसी चीज नहीं है जिसकी केवल दूसरों से आशा की जाये, और अपने आपको उससे बरी समझा जाये। 'राजा को गलती करने का अधिकार है' (किंग कैन डू रैंग) की युक्ति जिनके यहां होगी, उनके यहां होगी, हमारे लोकतंत्र में राजा को भी गलती करने का अधिकार नहीं है। इतना ही क्यों, हमारे शास्त्रों का भी यही विधान है कि जिस अपराध के लिये किसी सामान्य व्यक्ति को जो दण्ड दिया जाता है, किसी सरकारी अधिकारी द्वारा उसी अपराध के किये जाने पर कई गुणा अधिक दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। परन्तु यहां उल्टा होता है। दोषी साफ बच जाते हैं, बहुत हुआ तो उनका स्थानान्तरण कर दिया, और अधिक हुआ तो सेवा-मुक्त कर दिया, परन्तु

अनैतिकता और भ्रष्टाचार के विरोध में किसी बड़े आदमी को सजा मिलने की बात कहीं दिखाई नहीं देती।

हाल में ही ईराक के राष्ट्रपति ने अपने पुत्र को इस अपराध में गिरफ्तार करवाया है कि उसने अपने अंग-रक्षक की हत्या कर दी थी, और राष्ट्रपति ने न्यायधीशों से कहा है कि वे देश के कानून के अनुसार उसकी सजा तय करें। सब जजों ने मिलकर राष्ट्रपति से अपील की है कि वे अपने पुत्र को माफ कर दें और उस पर अभियोग न चलायें। इसका नाम है नैतिकता। परन्तु यहां उल्टी बात होती है। सब जगह अपने लोगों को बचाने का प्रयत्न किया जाता है, और उसके लिये कौन सा ऐसा पापड़ है जो नहीं बेला जाता।

उदाहरण के लिये बोफोर्स काण्ड को ही ले लीजिये। समस्त विपक्ष मिलकर इस काण्ड में कमीशन खाने का आरोप लगा रहा है, और सबूत के तौर पर दस्तावेज सामने आ रहे हैं। बोफोर्स कम्पनी और सरकारी बयानों के झूठ की पोल खुलती जा रही है, परन्तु सरकार बार-बार यही कहे चली जा रही है कि ये आरोप झूठे हैं। और आरोप लगाने वालों का यह दायित्व है कि वे इन्हें सत्य सिद्ध करें। हम पूछते हैं कि क्या नैतिकता का यह तकाज़ा नहीं है कि विपक्ष के द्वारा इन आरोपों को सत्य सिद्ध करने के बजाय आप स्वयं सिद्ध करें कि यह आरोप झूठे हैं। जितनी नैतिकता विपक्ष की है उससे कहीं बड़ी नैतिकता का प्रश्न आपके सामने मुंह बाये खड़ा है, क्योंकि जिन आरोपों को सत्य या असत्य सिद्ध करने के सारे साधन केवल आप के पास हैं, किसी सामान्य व्यक्ति के पास नहीं। उनकी सबसे अधिक जिम्मेवारी आप ही को लेनी होगी। अन्यथा जनता की नजर में जो शंका और संशय की लकीर खिंच गई है, उसे आप झुठला नहीं पायेंगे।

फिर जहां तक नैतिकता का प्रश्न है, वही बात सामने आती है। आपने अपने संविधान को सैक्युलर अर्थात् सम्प्रदाय-निरपेक्ष बनाया है। परन्तु कोई आपसे पूछे कि क्या आज तक आपने कभी इस पर अमल भी किया है। आपने भारतीय कोड बिल की बजाय हिन्दू कोड बिल बनाया। मुसलमानों की शरीयत को अलग से मान्यता दी। मानवाधिकार आयोग के स्थान पर आपने अल्पसंख्यक आयोग बनाया। सत्ता-प्राप्ति के लिये साम्प्रदायिक पार्टियों से समझौता किया और मुस्लिम लीग तथा अकाली दल जैसी निरी साम्प्रदायिक दलों की राजनैतिक पार्टी को मान्यता दी। उन्हें चुनाव लड़ने का अधिकार दिया। तब आप अब किस मुंह से साम्प्रदायिक पार्टियों पर नियन्त्रण की बात करते हैं? स्वयं बबूल के कांटे बोककर आम के फल खाना चाहते हैं?

फिर हम आपसे यह भी पूछते हैं कि चुनाव लड़ने वाले हर एक विधायक या संसद-सदस्यता के उम्मीदवार के लिये चुनाव-खर्च की सीमा निर्धारित है, परन्तु

क्या कोई भी उम्मीदवार अपनी छाती पर हाथ रखकर ईमानदारी से कह सकता है कि मैंने निर्धारित राशि से अधिक राशि अपने चुनाव में खर्च नहीं की? लोकतंत्र में सत्तासीन होने के पश्चात् जिन्होंने बेतहाशा धन जमा कर लिया है, क्या उनकी भी कभी गिनती होगी? हर एक मंत्री और राजनेता के लिये अपनी वर्तमान सम्पत्ति की घोषणा करना नैतिकता का अंग नहीं है? इस प्रकार ये कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर लोकतंत्र की रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये हम बार-बार कहते हैं कि सबसे पहली शर्त नैतिकता है। संविधान उसका समर्थक है। और उस शर्त को पूरा किये बिना आप लोकतंत्र की सफलता की संभावना भी नहीं कर सकते हैं।

४ दिसम्बर १९८८



“वैदिक वाङ्मय, संस्कृत-साहित्य और हिन्दी के विद्वान् लेखक, ओजस्वी वक्ता, पत्रकार, समाज-सुधारक, पर्यटक तथा प्रबुद्ध चिन्तक भाई क्षितीश जी ने अपनी योग्यता और सेवा के आधार पर देश की राजधानी के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अपना अद्वितीय स्थान बना लिया है। वे पत्रकार और आर्यसमाज के कर्मठ निष्ठावान् कार्यकर्ता के नाते देश और समाज का सही मार्ग-दर्शन भी करते आ रहे हैं।”

“उनकी विचारधारा प्रखर राष्ट्रवादी है। साम्प्रदायिकता उन्हें छू नहीं गई। समसामयिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में उनकी चिन्तन-शैली निराली है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज, राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए खपाया है। वे सच्चे अर्थों में निष्काम कर्मयागी हैं। पैसे और प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने अपने सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर जीवन में कभी किसी से समझौता नहीं किया।”

-सुभाष विद्यालंकार

पूर्वकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
डी-६, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली

सुभाषित

दातृत्वं प्रियथक्त्वं धीरत्वमुचितज्ञता ।

अभ्यासेन न लभ्येयुश्चत्वारः सहजा गुणाः ॥

दान देना, मधुर-भाषी होना, धीरता, और उचित-अनुचित का ज्ञान होना ये चारों गुण अभ्यास से प्राप्त नहीं होते, ये तो सहज स्वामाविक संस्कार-जन्य गुण होते हैं ।

क्या इन अंध-विश्वासों की भी कोई सीमा है?

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के मन की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। जिस तरह शारीरिक दृष्टि से मनुष्य सुविधाभोगी होने के मार्ग पर द्रुत गति से दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार मानसिक दृष्टि से भी जहां कहीं उसे क्षणिक तृप्ति का आसान से आसान रास्ता दिखाई दे, वह उसी को ग्रहण करना चाहता है। मनुष्य की इसी मानसिक दुर्बलता का लाभ अधिकांश धर्मध्वजियों ने उठाया है। आसानी की इस दौड़ में मनुष्य यह नहीं देखता कि अन्त में यह दौड़ उसे कौन से खड्ड में गिरायेगी, बस उसे तो उतरने का आसान रास्ता चाहिए। ऊपर चढ़ना उसे कठिन प्रतीत होता है, उसमें शरीर का श्रम और मन का संकल्प दोनों की जरूरत पड़ती है। परन्तु नीचे उतरने के लिये केवल इतना ही काफी है कि वह शरीर और मन दोनों की लगाम ढीली छोड़ दे, और तेजी से भागता चला जाये।

परन्तु क्या धर्म की राह इतनी आसान है? यह समझ लेना चाहिए कि जो चीज जितनी आसानी से प्राप्त हो जाती है, वह उतनी ही जल्दी नष्ट भी हो जाती है। "ईज़ी गौट, ईज़ी स्पेंट"— इस कहावत में भी यही भाव है। भ्रष्टाचार से अन्धाधुन्ध प्राप्त किया हुआ धन जितनी आसानी से और जितनी बेरहमी से खर्च किया जाता है, उसके उदाहरण दिन-प्रति-दिन हमारी आंखों के सामने आते ही रहते हैं। एक बार जब अर्थ का महत्त्व बढ़ गया, तब उस अर्थ के अर्जन के लिये उचित और अनुचित की चिन्ता छोड़ दी गई। तब केवल किसी भी प्रकार से धन प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य बन गया। आज मानव के अन्य सदगुणों के ऊपर धन जो हावी होकर बैठ गया है, उसके पीछे यही मनोवृत्ति

है, और उसी के कारण देश में इतना भ्रष्टाचार और इतना अनाचार फैल रहा है।

अभी आज का ही एक समाचार है। दिल्ली की यमुनापार की एक बस्ती में पिछले दिनों जैनियों का एक पंच-कल्याण समारोह हुआ, जिसमें भगवान् के जन्म से लेकर उनके मोक्ष तक के लिये किसी स्त्री-पुरुष को भगवान का माता-पिता बनाने की परम्परा है। भगवान के भी माता-पिता? पाठकों को आश्चर्य हो सकता है कि क्या भगवान के भी कोई माता-पिता हो सकते हैं? परन्तु नहीं, परम्परा की प्रथाओं में तर्क का स्थान नहीं होता। अब इस समारोह में धर्म-प्रेमी भक्तों की भीड़ और होड़ तो स्वाभाविक है। इसलिये आयोजकों ने एक सहज मार्ग चुन लिया। वे इस गौरव की नीलामी करके इस समस्या का हल करते हैं। जो जितनी बड़ी बोली लगायेगा, उतना ही वह पुण्यशाली माना जायेगा। अन्त में जो सबसे बड़ी बोली लगाता है उसको यह गौरव प्राप्त हो जाता है। इससे आयोजकों को भी लाभ है, और बोली लगाने वालों को भी। आयोजकों को अनायास अच्छी-खासी रकम मिल जाती है, और बोली लगाने वालों के लिए अनायास स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। उक्त समारोह में एक व्यापारी ने तीन लाख इक्यावन हजार की बोली लगाकर भगवान् के माता-पिता बनने का गौरव-पूर्ण पद पा लिया। सारे समाज में उनकी जय-जयकार हुई। मीलों लम्बा जुलूस निकाला गया और ऐरावत हाथी पर उन सज्जन को आदर सहित बैठाया गया। जनश्रुति के अनुसार ऐरावत हाथी सफेद रंग का माना जाता है। परन्तु संसार में कहीं भी सफेद रंग का हाथी सुलभ है नहीं। इस लिए काले हाथी पर सफेद रंग पोत कर इस समस्या के समाधान का रास्ता निकाला गया। इस पुण्यात्मा गौरवशाली व्यापारी को जब इन्द्र के राजसी कपड़े पहना कर उस हाथी पर बैठाया गया, तो वे भी हर्ष और गर्व के मारे फूल कर कुप्पा हो गए। खूब ठाठ-बाट से जुलूस निकला। परन्तु अन्त में यह सारा नाटक दुःखान्त होने से नहीं बच सका क्योंकि उस दानवीर जैन व्यापारी के घर पर अगले दिन आयकर अधिकारियों ने छापा मार दिया। उन अधिकारियों ने सोचा कि जो व्यक्ति इस प्रकार की क्षणिक बाह्यवाही लूटने के लिए साढ़े तीन लाख रुपया इतनी आसानी से खर्च कर सकता है, उसके पास कहीं न कहीं अवश्य कारु का खजाना छिपा होगा। हो सकता है कि आयकर अधिकारियों को सफल होने पर काफी कुछ हाथ लगा हो, परन्तु क्या इससे उस व्यापारी का स्वर्ग जाना रुक जायेगा?

इस प्रकार की प्रवृत्ति केवल जैनियों में नहीं, प्रायः सभी धार्मिक सम्प्रदायों में है, और सब जगह धन और धनपतियों की पूछ का वातावरण है। इसलिए तथाकथित साधु सन्त भी अब अपनी सन्तान्द्र के बहाने भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करने में ही लगे

हुए हैं। जितने बड़े-बड़े मठों का और तथाकथित आश्रमों का निर्माण वे करते हैं, उनका ऐश्वर्य किसी पूंजीपति के प्रासाद से कम नहीं होता। कहावत—“भरे ही को सब भरते हैं” इसलिए जिस सन्त के पास जितना अधिक सांसारिक ऐश्वर्य हो, वह उतना ही बड़ा सन्त माना जाता है, और उसके आगे-पीछे सेठ साहूकार भी अपना धन लुटाने के लिए लाइन लगाये रखते हैं। वे समझते हैं कि इतने बड़े सन्त की सिफारिश से तो हमारे लिए स्वर्ग का पासपोर्ट और वीसा कोई रोक नहीं सकता। आजकल के सन्तों में एक और होड़ चली है, और वह यह है कि वे चेलों के बजाय चेलियों को अधिक पसन्द करते हैं, और वे चेलियां भी यदि विदेशिनी गौरांगनायें हों तो कहना ही क्या? इसलिए कौन बड़ा सन्त है, इसकी सबसे बड़ी पहचान यह मानी जाने लगी है कि उसकी कितनी विदेशी चेलियां हैं।

अन्धविश्वास का यह तो एक फैशनेबल तरीका है, पर इसी अन्धविश्वास के कुछ ऐसे वीभत्स उदाहरण भी हैं जिनको देखकर धर्म के नाम पर होने वाले उन कृत्यों से घृणा भी कम नहीं होती। यदि आजकल की सुशिक्षित नई पीढ़ी धर्म को इतनी घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखती है तो उसके पीछे मूल कारण अंधविश्वास की ऐसी वीभत्स घटनाएं ही हैं। पाठक भूले नहीं होंगे—अभी पिछले दिनों ही एक सदगृहस्थ ने देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने ही सगे बेटे की अपने ही हाथों से बलि चढ़ा दी, यह सोचकर कि मेरे इस कार्य से देवी प्रसन्न हो जायेगी। इस अन्धविश्वास के कारण उस व्यक्ति का हृदय कितना संवेदना-शून्य हो चुका था कि उसको रत्ती भर भी इस बात का भान नहीं हुआ कि मैं कोई अपराध कर रहा हूँ। धर्म की अफीम का यही असर होता है। परन्तु नहीं, धर्म को क्यों बदनाम किया जाए? यह धर्म नहीं, कोरा अन्धविश्वास है। और अन्धविश्वासों को धर्म मानना किसी भी बुद्धिशील प्राणी का नहीं, केवल अन्धविश्वासी स्वार्थियों का ही काम है।

ऐसी घटनाएं भी आये दिन सामने आती रहती हैं, जब लोग अपनी जीभ काट कर देवी की भेंट चढ़ा देते हैं। इसी प्रकार के एक देवी के मन्दिर में गत वर्ष सात सौ व्यक्तियों ने अपनी जीभ काट-काट कर चढ़ाई थी। इस प्रकार की बलि से प्रसन्न होने वाली क्या कोई देवी हो सकती है? या इस प्रकार के भक्तों का कभी कोई कल्याण हो सकता है? नहीं, तर्क मत करिए। यह श्रद्धा का विषय है, और धर्म के सम्बन्ध में श्रद्धा को ठेस पहुंचाना धार्मिक व्यक्तियों की दृष्टि में सरासर नास्तिकता है। अब समझ में आता है न कि आजकल नास्तिकता क्यों बढ़ रही है?

कभी-कभी कुछ सदाशयी उदार पौराणिक धर्मबन्धु यह कहते सुनाई देते हैं कि “ऋषि दयानन्द ने बाकी सब काम तो बहुत अच्छे किए, केवल एक ही बुरा

काम उन्होंने किया, और वह यह कि मूर्ति-पूजा के खण्डन के पीछे पड़े रहे। यदि ऋषि दयानन्द ने मूर्तिपूजा का खण्डन न किया होता तो आज सारे देश में आर्य समाज ही आर्य समाज छाया होता।" आर्य समाज के उन हितैषी बन्धुओं से हम पूछना चाहते हैं कि अपनी जीभ काट कर चढ़ाने वाले या अपने बेटे की बलि देने वाले, या मुर्गे और बकरे की बलि देकर देवी को प्रसन्न करके पुण्य लूटने वाले भक्तों के इस अन्धविश्वास में यदि सबसे बड़ा कारण मूर्तिपूजा नहीं तो और क्या है। जब तक मूर्तिपूजा रहेगी तब तक ऐसे वीभत्स कृत्य भी होते रहेंगे, और ऐसे भक्तों के हृदय इसी प्रकार मानवीय संवेदना से शून्य बने रहेंगे।

अब आपसे और क्या कहें! हमारे शंकराचार्य-गण भी गोहत्या पर प्रतिबन्ध की मांग तो करते हैं, परन्तु जब उनके समक्ष गोवध के समर्थक उन्हीं के मान्य धर्मग्रन्थ प्रस्तुत किये जाते हैं, तो उनकी प्रामाणिकता अस्वीकार करने को वे कटिबद्ध नहीं होते। वे अब भी यज्ञ में पशुहिंसा के समर्थक हैं, और अन्त में गोहत्या के प्रतिबन्ध की मांग के सम्बन्ध में केवल यह कह कर पीछा छुड़ाना चाहते हैं कि वह कलियुग में वर्जित है। जिस तरह के अन्धविश्वास हिन्दुओं में हैं, उसी प्रकार के और उससे भी बढ़कर अन्धविश्वास ईसाई और मुसलमानों में भी हैं। औरों के अन्धविश्वासों का खण्डन करने से पहले हमें अपने अन्धविश्वासों को छोड़ना होगा। परन्तु क्या इन अन्धविश्वासों की कोई सीमा भी है?

१५ जनवरी १९८६



मूर्तिपूजा और भक्ति-काल

रूपक और अलंकार आदि साहित्यिक रसास्वादन के लिए हैं। व्यावहारिक जीवन में तो ठोस सत्य का ही आश्रय लेना पड़ता है। हिन्दू समाज से यही गलती हुई कि उसने इन रूपकों और आलंकारिक वर्णनों को जीवन का अंग बना लिया। इस जड़-पूजा ने सारे राष्ट्र को जड़ बना दिया। ऐसा जड़, जिसमें किसी भी प्रकार की चेतना नहीं रही।

देश में सैकड़ों-हजारों मन्दिर बन गये, और दक्षिण से चली भक्ति की आंधी सारे देश में छा गई। रेत में गर्दन छुपाने वाले शुतुर्भुज की तरह सारे देश ने भुगलों की गुलामी के उस दौर को सहज-भाव से स्वीकार कर लिया। येन-केन-प्रकारेण जीवित रहने का आधार तो तैयार कर लिया पर तेज नष्ट हो गया।

'आप्त राष्ट्रपुरुष' पृष्ठ ८ से ६

सुभाषित

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

— श्रीमद्भगवद्गीता ६/५

अपने ही प्रयत्न से अपना उद्धार करो, अपने आपको कभी निराश मत होने दो। तुम स्वयं अपने बन्धु हो और तुम स्वयं ही अपने शत्रु हो।

हे गणतन्त्र-दिवस!

इस बार का गणतन्त्र दिवस आशा—निराशा भरे वातावरण में आ रहा है। वैसे तो शायद हर बार के गणतन्त्र दिवस में ही आशा और निराशा दोनों का अपने—अपने ढंग से समावेश होता रहा होगा, परन्तु अतीत और भविष्य की तुलना में वर्तमान जिस प्रकार प्रमुख रूप से मन पर हावी हो जाता है, उसके कारण इस बार के गणतन्त्र दिवस के आगमन पर आशा और निराशा की जो धूप—छाया अन्तःकरण के अन्तरिक्ष को आन्दोलित कर रही है, उसकी ही हम चर्चा करना चाहते हैं।

पहले आशा की बात करें। गत वर्ष जैसा भयंकर सूखा पड़ा था। उसके कारण देश के कई राज्यों में जनता त्राहिमाम् कर उठी थी। परन्तु उसके बाद जैसी भरपूर वर्षा हुई उससे उस भयंकर सूखे का उचित रूप से परिमार्जन हो गया, और नया वर्ष आते—आते देश भर में अनुकूल प्राकृतिक वातावरण के कारण खेतों में फसलें फिर लहलहा उठीं। उसके अलावा जनवरी के प्रारम्भ में ही जो तीव्र वर्षा हुई, उसके कारण टंड बेशक इतनी बढ़ गई जितनी पिछले २० सालों में कभी नहीं हुई थी; किन्तु जानकारों का कहना है कि यह वर्षा भी फसलों के लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगी।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को देखें तो उसमें भी कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिनकी गत वर्ष तक कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। ईरान और ईराक का आपसी युद्ध बन्द हो गया है, अफगानिस्तान से सोवियत संघ की सेनाएं हट रही हैं, और चीन, पाकिस्तान तथा बर्मा में लोकतन्त्र की नई लहर चल रही है। सबसे अधिक चमत्कार तो पाकिस्तान में हुआ है, जहां एक महिला ने ३५ वर्ष की उम्र में ही संसार की पहली मुस्लिम महिला प्रधानमंत्री बनने का सौभाग्य प्राप्त

किया है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को शान्ति की दिशा में मोड़ने का सबसे अधिक श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को दिया जा सकता है तो वे सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाच्योफ ही हैं। कुछ समय पहले तक किसी को यह विश्वास नहीं होता था कि अमरीका और सोवियत संघ दोनों अपने-अपने प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने पर सहमत हो जायेंगे। अब वह सिलसिला भी शुरू हो गया है। स्वयं सोवियत संघ में जो पहली लोहे की दीवार खिंची हुई थी, वह हट गई है और वहाँ की जनता भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का उपभोग करती नज़र आने लगी है।

हाल में ही प्रधानमंत्री की चीन और पाकिस्तान की यात्रा से इन देशों के साथ सम्बन्धों में अनेक वर्षों से जो कटुता समय पाकर और बढ़ती जाती थी, उसमें कमी आई है। प्रधानमंत्री की इन यात्राओं से किसी बहुत बड़ी उपलब्धि की बात कहना भले ही बेमानी हो, परन्तु उन देशों के साथ संवाद के माध्यम से पारस्परिक समस्याओं के समाधान का मार्ग तो प्रशस्त हुआ ही है। पाकिस्तान की प्रधानमंत्री श्रीमती बेनजीर भुट्टो ने तो चुनाव से पहले और चुनाव के बाद सत्तारूढ़ होने पर भी शिमला समझौते की सार्थकता को दोहराया है और दोनों देशों के आपसी मसलों को आपसी बातचीत से ही हल करने की नीति अपनाने की बात कही है। इसके अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के संगठन (सार्क) की बैठक में अन्य देशों के मध्य आपसी सहयोग की सम्भावनाएं भी बढ़ी हैं।

मालदीव में भारतीय सेना ने स्वल्प समय में ही विद्रोह को विफल करने में जो कामयाबी हासिल की उससे भारतीय सेना का गौरव बढ़ा। श्रीलंका से भी अब भारतीय सेना की वापसी शुरू हो गई है। काफी कुर्बानी के पश्चात् भारतीय सेना ने श्रीलंका को विघटन से बचा तो लिया है और तमिलों को किसी हद तक स्वायत्तता का अधिकार भी मिल गया है, परन्तु भारतीय शान्ति-सेना के वहां से हट जाने के बाद श्रीलंका की राजनीति कहां तक स्थिर रह पायेगी, यह कहना कठिन है। भारत ने अपना कर्तव्य पूरा करने में कोई कोताही नहीं की। पड़ोसी देशों में ऐसी सफलताओं के कारण ही प्रधानमंत्री को सार्क की बैठक में यह आश्वासन देना पड़ा कि भारत अपने पड़ोसी देशों पर कोई सैनिक आतंक नहीं जमाना चाहता।

आशा की सुनहली धूप के बाद अब निराशा की काली छाया की चर्चा करते हुए सबसे पहला ध्यान आर्मेनिया के भयंकर भूकंप की ओर जाता है, जहां भारी संख्या में लोगों के जानमाल की हानि के साथ कई नगर नाम-शेष हो गये हैं। यों इस प्रकार की प्राकृतिक विपदाएं हर साल ही आती रहती हैं, परन्तु आर्मेनिया की विपदाएं सामान्य घटना नहीं हैं। इन प्राकृतिक विपदाओं के साथ मनुष्यकृत विपदाएं भी कभी मानव-जाति का पीछा नहीं छोड़तीं। आये दिन विमान दुर्घटनाएं होती रहती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि पिछले दिनों जितनी बड़ी-बड़ी

विमान-दुर्घनाएं हुई हैं, उन सबमें प्रायः अमरीका के प्रसिद्ध बोइंग विमान शामिल रहे हैं। इसलिये संसार भर की नजरों में इस विमान की साख को गहरा धक्का लगा है। भारत ने तो अब भविष्य में रूसी विमानों और विमान-चालकों को प्रश्रय देने की नीति अपनाई है। इन मनुष्यकृत विपदाओं में आज (जनवरी १६, १९८६) के समाचार-पत्रों के अनुसार ढाका में हुई भयंकर रेल दुर्घटना में लगभग २०० व्यक्ति मर गये हैं और १००० घायल हो गये हैं। बांग्लादेश में इतनी भयंकर रेल-दुर्घटना अभी तक कभी नहीं हुई थी।

प्राकृतिक विपदाओं का परिगणन हमारा प्रयोजन नहीं है। हम तो केवल मानवीय संवेदना की दृष्टि से इस प्रकार की घटनाओं से होने वाली निराशा की ओर ही संकेत करना चाहते हैं। इसके अलावा अमरीका ने हाल में ही लीबिया के दो विमानों को गिराकर राजनीति में "समर्थ को नहीं दोष गुसाई" को चरितार्थ करने का प्रयत्न तो किया है, परन्तु ब्रिटेन को छोड़कर संसार के किसी देश ने उसकी इस कार्यवाही का समर्थन नहीं किया है। फिर चौधराहट का एक नया आयाम यह भी है कि अमरीका लीबिया के रासायनिक हथियारों के कारखाने तो नष्ट करना चाहता है, परन्तु साथ ही संसार के समक्ष उसे यह घोषणा करते हुए शर्म नहीं आती कि अमरीका स्वयं रासायनिक हथियार बनाना बंद नहीं करेगा। लोकतन्त्र की बहती हवा में इस प्रकार की चौधराहट के कुलबुलाते कीड़े तो खत्म हो नहीं पाये।

भारत का आन्तरिक परिदृश्य भी आशा और निराशा से भरा हुआ है। मंहगाई की मार कम होने का नाम नहीं लेती। भ्रष्टाचार अपनी जगह कायम है ही। विपक्षी दल न पूरी तरह विघटित होते हैं और न ही संगठित होते हैं। एक दिन 'जनता दल' बनने की घोषणा होती है, अगले दिन ही कोई बहुगुणवान नेता उसमें पंक्चर ठोकते नजर आते हैं। दार्जिलिंग में गोरखा परिषद् को सफलता मिल गई है और इधर तमिलनाडु, नागालैण्ड और मिजोरम में विधान-सभाओं के चुनाव होने वाले हैं। गणतन्त्र-दिवस तक तीनों विधान-सभाओं के चुनाव-परिणाम सामने आ चुके होंगे और उसके आधार पर अगले आम चुनावों की रणनीति तैयार की जायेगी। आखिर इस वर्ष महानिर्वाचन का महाकुम्भ भी तो होना ही है।

महाकुम्भ की बात सामने आ गई तो १२ वर्षों के बाद प्रयाग के त्रिवेणी-संगम पर होने वाला इस बार का अभूतपूर्व जनसम्मर्द-समन्वित यह पर्व भी आशा-निराशा की धूप-छाया वाली अपनी पृष्ठभूमि पीछे छोड़ जायेगा। बिना किसी दुर्घटना के इतना बड़ा मेला कुशलतापूर्वक समाप्त हो जाये, यह तो हमारी कामना है ही, परन्तु इसी कुम्भ पर यह फ़ैसला होने वाला है कि इसकी समाप्ति के बाद ही हजारों सन्तों के समागम के साथ अयोध्या में राम-जन्म-भूमि वाले स्थान पर नया राम मन्दिर बनना प्रारम्भ हो जायेगा। उधर मुसलमान इस मन्दिर को न बनने देने के

लिये अपने हथियार संभाल रहे हैं। क्या महानिर्वाचन के आसपास किसी भयंकर रक्तपात की भूमिका तैयार हो रही है?

देश के लिए निराशाजनक जो एक और पहलू है, उसका उल्लेख करना भी आवश्यक है। श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के जिम्मेवार सतवंत सिंह और केहर सिंह को फांसी देने के बाद संसार भर में भले ही भारत की न्याय-व्यवस्था की प्रशंसा हुई हो, किन्तु सिखों की संकीर्ण मानसिकता को पनपने के लिये और खाद-पानी मिल गया। सिखों के अनेक संगठन दिन-रात एकता के राग अलापते हुए भी अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के कारण निरन्तर अनेकता में बदलते जा रहे थे। ब्लैक थंडर आपरेशन के बाद जिनको जनता के सामने सुखरू होने का कोई कारण नहीं बचा था, अब उनको दुबारा जीवनदान मिल गया है। जगह-जगह उन हत्यारों के परिवारों को पुरस्कृत किया जा रहा है और उनको अमरशहीद घोषित करके अर्दास में शामिल किया जा रहा है। देश में विघटन के बीज और गहरे बोने का प्रयत्न जारी है। जम्मू और ऊधमपुर के दंगे इसी की पूर्वसूचना तो नहीं हैं?

हे गणतन्त्र दिवस! इस कड़कड़ाती सर्दी में तुम जो आशा की धूप लाये हो, उसका हार्दिक स्वागत है, पर जो निराशा की छाया लाये हो, उससे ठिठुरते देश को बचाने का पैगाम कौन लायेगा?

२२ जनवरी १९८६



“क्षितिश जी की दृष्टि दार्शनिक है। वे स्वतन्त्र विचारक हैं। घटनाओं का विश्लेषण एवम् उनका वर्णन उनके स्वतन्त्र चिन्तन का द्योतक है, तो उनकी वर्णन-शैली साहित्यिक प्रतिभा का परिचय देती है। वे निर्भीक समालोचक हैं और संस्थागत अथवा सामाजिक दोषों और भ्रष्टाचार के कटु आलोचक हैं। उनको दोषों से घृणा है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को वे प्रेमभाव से देखते हैं। ...भारत के अतीत के गौरव तथा इतिहास में उनकी विशेष रुचि है। ...वे वेदाधारित राष्ट्र को ही राष्ट्रवाद की असली कुंजी मानते हैं।”

-वीरेन्द्र सिंह परमार

(पूर्व सम्पादक, अमेरिकन रिपोर्टर)

२ यू० बी० जवाहर नगर, दिल्ली

सुभाषित

प्रजाकार्यं तु तत्कार्यं प्रजासौख्यं तु तत्सुखम्।

प्रजाप्रियं प्रियं तस्य स्वहितं तु प्रजाहितम्॥

प्रजार्थं तस्य सर्वस्वमात्मार्यं न विधीयते॥

— महाभारत

प्रजा का कार्य ही शासक का कार्य है, प्रजा का सुख ही उसका सुख है, प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय है, तथा प्रजा के हित में ही उसका हित है। उसका सर्वस्व प्रजा के निमित्त है, अपने लिए कुछ भी नहीं है।

जब तन्त्र लोक पर हावी हो

चालीसवें गणराज्य दिवस पर समस्त राष्ट्र के लिये आत्मनिरीक्षण का बहुत अच्छा अवसर उपस्थित हुआ था। छब्बीस जनवरी को गणराज्य दिवस की विशाल और भव्य परेड, २७ और २८ जनवरी को विभिन्न राज्यों के लोक-नर्तकों के लोककला-सम्बन्धी सांस्कृतिक कार्यक्रम, २६ जनवरी को विजय चौक पर परेड का समापन समारोह, और ३० जनवरी को राजघाट पर महात्मा गांधी की पुण्यतिथि का आयोजन। इस प्रकार ये चारों दिन हर्ष और उल्लास से शुरू होकर अन्त में गांधी के बलिदान दिवस की दुःखान्तिका तक पहुंच जाते हैं। यह अवसर जहां समस्त राष्ट्र के वैभव, रक्षात्मक तैयारी और आनन्द का परिचायक है, वहां राष्ट्रपिता की पुण्यतिथि के कारण गम्भीर अवसाद का संवाहक है। जैसे हर्ष और विषाद के इस वर्तुल में मानव-जीवन लिपटा हुआ है, हमारा राष्ट्रीय जीवन भी उसी वर्तुल से ओतप्रोत है। गणराज्य दिवस के साथ लगने वाले चार दिन समस्त राष्ट्र के लिये आत्म-चिन्तन का सबसे उत्तम अवसर रहे हैं।

जब व्यापक दृष्टि से विचार करते हैं तो हम यह देखते हैं कि भारत के स्वतन्त्र होने के लगभग साथ-साथ ही चीन और जापान भी साम्राज्यवाद के पंजे से मुक्त हुए। अपने देश की प्रगति का लेखा-जोखा तैयार करने के लिये हमें इन दोनों देशों से तुलना करने में सहायता मिल सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् जर्मनी अंगभंग होने के और पराजय के पश्चात् भी जिस तरह धरातल से उठकर शिखर तक पहुंचा है। उसको यदि छोड़ भी दें, तो चीन और जापान यूरोपीय नहीं एशियाई

देश ही हैं, और उनके साथ तुलना करना स्वाभाविक है। स्वतन्त्रता के पश्चात् विकासशील देशों में सबसे अधिक प्रगति यदि किसी ने की है तो उसमें भारत ही प्रमुख है, यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं। हमारे देखते-देखते चीन अफीमधियों के देश से महाशक्ति बन बैठा, और इसी अवधि में जापान सबसे अधिक समर्थ औद्योगिक देश बन गया। कहा जा सकता है कि चीन में साम्यवाद था। पर जापान में लोकतन्त्र ही है—मले ही वहां ब्रिटेन की तरह राजतन्त्र के अवशेष भी विद्यमान थे। बुजुर्ग लोग भूले नहीं होंगे। एक जमाने में किसी सामान के साथ "जापानी" सम्बोधन लगा देना उसके नकली और घटिया होने का प्रमाण माना जाता था। पर आज इलेक्ट्रॉनिक्स और ऑटोमैटिक सामान के निर्माण में जापान ने जैसी साख प्राप्त की है वैसी किसी और देश ने नहीं की। अब "जापानी" विशेषण घटिया का नहीं, बढ़िया का सूचक है। जापान ही क्यों, हमारे देखते ही देखते दक्षिण कोरिया और ताईवान में भी औद्योगिक विकास की दृष्टि से ऐसा चमत्कार हुआ है कि आयातित माल के दीवाने हिन्दुस्तानी उन देशों के माल को बड़े शौक से खरीदते हैं। और उनके लिये भारतीय माल की अपेक्षा कई गुना कीमत देने को तैयार रहते हैं।

रही बात चीन की, सो वह महाशक्ति तो है ही, परन्तु अणुशक्ति और प्रक्षेपास्त्रों के विकास की दृष्टि से वह इतना आगे बढ़ गया है कि अब अन्य देशों को भी वह निर्यात करता है। अब उसने अपनी आय का बड़ा साधन इसी को बनाया है; परन्तु हम जिस चीज को अधिक महत्त्व देते हैं, वह यह नहीं है। चीन ने अपनी जनसंख्या की बेतहाशा वृद्धि पर जिस तरह अंकुश लगाया है, सामान्य जनता की गरीबी दूर करने का प्रयत्न किया है, और अपनी वितरण-प्रणाली को नियन्त्रित किया है, वह भारत के लिये आज भी ईर्ष्या की वस्तु है। यह ठीक है कि हम अपने देश में लोकतन्त्र के कायम रहने पर उचित रूप से गर्व कर सकते हैं, परन्तु गत ४० वर्षों में हमने अपने संविधान में वर्णित जनता की किसी भी अपेक्षा को पूरा नहीं किया है। हमने संविधान में स्वीकार किया था कि दस वर्षों में सभी को प्राथमिक शिक्षा का लाभ मिलेगा, सभी को रोजगार मिलेगा, नशाबन्दी की जायेगी, अस्पृश्यता को जड़-मूल से समाप्त कर दिया जायेगा। परन्तु आज इनमें से किसी भी बात को पूरा करके गर्व करने की स्थिति में हम नहीं हैं। समान काम के लिए समान वेतन, और जन-सामान्य के लिये अधिकतम सुविधा के दावे केवल दिवास्वप्न सिद्ध हुए। लोकतन्त्र का वास्तविक सार तो यह था कि तन्त्र पर लोक हावी रहता। परन्तु यहां उल्टी बात हो गई, क्योंकि लोक पर तन्त्र इस प्रकार हावी हो गया जैसे लोक का सर्वथा लोप ही हो गया हो।

कभी स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने खुले दिल से यह स्वीकार किया था कि स्वतन्त्रता की उषाबेला में ही हमसे दो बड़ी भूले हो गईं—पहली तो यह

कि हमने ब्रिटिश सरकार की नौकरशाही ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली, और दूसरी यह कि हमने अंग्रेजी सत्ता के लाभ के लिये जारी की गई मैकाले की शिक्षा प्रणाली को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। यह कथन निःसन्देह ईमानदारी से भरा था, और हमारी आज की अधिकांश समस्याओं की जड़ देश की इन्हीं दो भूलों में छिप हुई है। कहने को हमने समाजवादी गणराज्य (लोकराज्य) बनाया, लेकिन पूंजीवाद की सगी औलाद के रूप में पनपी नौकरशाही कभी समाजवादी बन पायेगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। नौकरशाही अपनी भ्रष्टता के लिए पहले भी दिखाता थी, और अब तो उसकी भ्रष्टता में और चार चांद लग गये हैं। कहावत है कि सत्ता भ्रष्ट करती है और निरंकुश सत्ता निरंकुश भ्रष्टाचार को जन्म देती है। पर जब सत्ता और नौकरशाही दोनों जुड़ जायें तो भ्रष्टाचार की सीमा कितनी बढ़ जायेगी?

हमने जिस समाजवाद का नारा लगाया था उसकी तीन मुख्य विशेषताएं होनी चाहिए थीं। वे विशेषताएं थीं—सबके लिये समान शिक्षा, सबके लिये समान न्याय, और सबके लिये समान चिकित्सा। और ये तीनों आम जनता के लिये निःशुल्क करना समाजवादी शासन की प्रारम्भिक विशेषता मानी जानी चाहिए थीं। परन्तु आज शिक्षा, चिकित्सा और न्याय इन तीनों के निःशुल्क होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन तीनों पर पूंजीपतियों का इजारा है। जिसके पास पैसा है, उसी के बच्चे अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, और अपने अनुकूल न्याय प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा धन—विहीन व्यक्ति के लिए ऊँची शिक्षा, अच्छी चिकित्सा और ठीक न्याय मिल पाने की सम्भावना न के बराबर है।

आज़ादी के बाद जो नव-धनाद्यों का एक नया वर्ग तैयार हुआ है, काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था चालू हुई है, और जो नई पांच-सितारा होटल—संस्कृति विकसित हुई है, उसने तो जैसे नैतिकता और मर्यादा की सभी सीमाओं का उल्लंघन कर दिया है। अब न रिश्वत देने वालों की कमी है, नहीं ही रिश्वत लेने वालों की कमी है। इसके अतिरिक्त रिश्वत दिये जाने वाले या मांगे जाने वाले साधनों की भी कोई कमी नहीं है। आपतकाल के दौरान जयप्रकाश नारायण का यही तो आरोप था कि भ्रष्टाचार ऊपर से आरम्भ होता है। पर आपतकाल लागू करने वाले शासक कहते थे कि नहीं, भ्रष्टाचार नीचे से आरम्भ होता है। वही बहस आज भी कायम है। और उस बहस का सही उत्तर केवल एक ही है कि भ्रष्टाचार ऊपर से भी होता है, और नीचे से भी, और जनता इन दोनों पाटों के बीच में पिसती चली जाती है।

हमेशा निराशापूर्ण बात कहने वाले और देश के अंधकारमय वर्तमान और भविष्य की तस्वीर खींचने वाले 'अक्लमन्दों' में हम नहीं हैं। लेकिन वास्तविक स्थिति से

आखें बन्द करना भी हमें स्वीकार नहीं है। हम मानते हैं कि स्वतन्त्रता के पश्चात् गत् ४० वर्षों में अनेक क्षेत्रों में देश ने महान् प्रगति की। अब अन्तरिक्ष, एन्टार्कटिका और अणु-शक्ति के नदशे में भारत का भी स्थान है और सैन्य शक्ति की दृष्टि से भी भारत ने बहुत कुछ किया है। परन्तु साथ ही यह भी मानना होगा कि नौकरशाही और मैकाले की शिक्षा-पद्धति ने मिलकर जो देश का बंटाढार किया है, वह भी कम नहीं है। शहरों का विकास बेशक हुआ है, पर ग्राम उजड़े हैं। नये-नये उद्योग-धन्धे पनप रहे हैं, लेकिन ग्रामीण उद्योग अपनी आखिरी सांसें गिन रहे हैं, और बेरोजगारी बढ़ रही है। अमीर और अमीर हुए हैं, तथा गरीब और गरीब हुए हैं। शिक्षा, चिकित्सा और न्याय ये तीनों गरीब आदमी के लिये उसी प्रकार दुर्लभ हैं जिस प्रकार ब्रिटिश शासन में दुर्लभ थे। सच बात तो यह है कि स्वतन्त्रता के बाद जो एक नया वर्ग तैयार हुआ है, उस नये वर्ग का ही शासन पर, राजनीति पर, अर्थव्यवस्था पर और सारे समाज पर नियन्त्रण है।

आज गण के देवता का नहीं, तन्त्र के दैत्य का राज्य है, और तन्त्र लोक पर इतना हावी हो गया है कि लोकतन्त्र का आधार 'दरिद्रनारायण' खुली हवा में सांस लेने के लिये तरस रहा है।

५ फरवरी १९८६



'साहित्यिक जगत् और 'आर्य-जगत्' के इस प्रबुद्ध तथा समर्पित विचारक की प्रखर लेखनी में ओजस्विता है। गुरु-गम्भीर वाणी में तेजस्विता है। इससे साधारणीकरण होने पर पाठक और श्रोता उदात्तता, आत्मीयता और एक मनः-प्रशान्ति का अनुभव करते हैं। इस मनीषी के स्वस्थ विचारों में देश और काल आदि की सीमाएं नहीं होती, उन्हें 'शाश्वत वाणी की झंकार' कहना चाहिए। मानव-मात्र के समग्र कल्याण की भावना से उद्भूत इस वैदिक-द्रष्टा की विचार-सरिता सब के लिए, सदा और सर्वत्र प्रेरक व निर्मलकत्रा हैं किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति उनके स्पर्श से प्राणवान् और आकर्षक हो उठती है।'

-डॉ० वेदव्रत 'आलोक'

रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय

सुभाषित

शिरः शार्वं स्वर्गात् पतति शिरसस्तत् क्षितिधरं।

महीध्राद् उत्तुंगदवनिमवनेश्चापि जलधिम्।

अधोऽधोऽगंगेयं पदमुपगता स्तोकमथवा,

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥

पौराणिक आख्यान के अनुसार—“गंगा पहले स्वर्ग से शिवजी के सिर पर गिरती है, शिवजी के सिर से हिमालय पर्वत पर गिरती है, उत्तुंग हिमालय से वह पृथ्वी पर गिरती है, परन्तु वहां भी रुकती नहीं। प्रत्युत पृथ्वीतल से उतर कर समुद्र में जा गिरती है। इस प्रकार यह गंगा धीरे-धीरे निरन्तर नीचे गिरती चली गई। ठीक ही तो है, जब व्यक्ति एक बार विवेक से गिर जाता है, तो उसका सैकड़ों प्रकार से पतन होता ही चला जाता है।”

अमृत-कुम्भ में विष

पुराण के अनुसार समुद्र-मन्थन से चौदह रत्न के रूप में प्राप्त अमृत-कुम्भ को जब देवगण असुरों के हाथ न लगने देने के विचार से ले भागे, तब उस अमृत-कुम्भ के जहां-जहां छींटे पड़ते गए, वहीं कुम्भ-पर्व आयोजित होने लगा।

वैदिक और पौराणिक परम्परा में अमृत और कुम्भ का विशिष्ट अर्थ है, और उस परम्परा में बाहर से अर्थभेद दिखने पर भी अन्दर से अर्थसाम्य है। संक्षेप से इतना ही कहा जाता है कि असुरत्व जहां अनात्म-संस्कृति का प्रतीक है, वहां देवत्व आत्म-संस्कृति का उद्घोषक है। देवासुर-संग्राम भी आत्म-अनात्म-संस्कृति के वैचारिक संघर्ष की ही निशानी है।

आत्मा के साथ ही समस्त वैदिक वाङ्मय में अमरता का भाव ओतप्रोत है। यही देवों द्वारा अमृत-कुम्भ को हस्तगत करने का आशय प्रतीत होता है। यज्ञ-तप-त्याग उसी अमृतत्व (अमरता) की साधना का अंग हैं। श्रद्धालु भक्त इसी भावना से तीर्थ-यात्रा करते हैं।

तीर्थों में तीर्थराज है—प्रयाग, जहां जन्हु-कन्या गंगा, यम-स्वसा यमुना और ब्रह्म-सुता सरस्वती का संगम होता है। यमुना और गंगा का संगम तो प्रत्यक्ष है ही, पर सरस्वती का संगम परोक्ष और अदृश्य है। यह इस बात का भी संकेत है कि भारतीय जन-मानस सांस्कृतिक दृष्टि से कितना ही निष्ठावान् क्यों न हो, पर अपनी उड़ान में उसने कभी कल्पना का दामन नहीं छोड़ा।

फिर गंगा तो ठहरी देवनदी—वह अन्तरिक्ष, पृथ्वी और पाताल तीनों लोकों को पवित्र करती है। इसका आध्यात्मिक अर्थ कुछ भी हो, पर भौगोलिक अर्थ भी कम यथार्थ नहीं है। हिम—शिखर के माध्यम से वह अन्तरिक्ष का स्पर्श करती है, समतल मैदान में प्रवाह के समय वह पृथ्वी—तल का स्पर्श करती है, और समुद्र में विलीन होकर वह पाताल का स्पर्श करती है। समुद्र के वैज्ञानिक यह भी कहते हैं कि समुद्र—तल में गंगा का प्रवाह उसके स्थल—विस्तार से भी अधिक लम्बा है। यह कितना चमत्कारी यथार्थ है।

पतित—पावनी गंगा के सम्बन्ध में अबुल फ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' में लिखा है कि अकबर बादशाह को गंगा—जल से इतना प्रेम था कि वे घर में या यात्रा में सदा गंगा—जल ही पिया करते थे। कुछ विश्वासपात्र लोग गंगा—तट पर इसलिए नियुक्त रहते कि वे घड़ों में गंगा—जल भर कर और उन पर मुहर लगा कर बराबर भेजते रहें।

अकबर तो हिन्दुत्व—प्रेमी माना जाता है, इसलिए गंगाजल के प्रति उसकी श्रद्धा से आश्चर्य नहीं होता। पर औरंगज़ेब जैसे कट्टर मुसलमान का भी गंगा—जल के बिना काम नहीं चलता था। शाहज़ादा दाराशिकोह की धिक्कित करने वाले फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने अपने यात्रा—विवरण में लिखा है कि दिल्ली और आगरा में औरंगज़ेब के लिए खाने—पीने की सामग्री के साथ गंगा—जल भी रहता था। जब वह यात्रा पर होता था, तब ऊंटों पर लाद कर गंगा—जल भी साथ ले जाता था।

जिस गंगा की महिमा का वर्णन करते—करते कवि—गण थकते नहीं, उसी गंगा के प्रति भक्तों के मन में यह धारणा जमी रहती है—

गंगा-गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।

मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णु-लोकं स गच्छति॥

—“जो सौ योजन दूर से भी गंगा का नाम ले लेता है, वह सब पापों से छूट कर विष्णुलोक को प्राप्त होता है।” देहावसान के पश्चात् भी भगवती भागीरथी की गोद में आस्तिक हिन्दू के फूल जब तक नहीं सिराए जाते, तब तक वह अपने आपको स्वर्ग जाने का अधिकारी नहीं समझता। जिसका दर्शन, मज्जन, पान—सभी कुछ पुण्यदायी है, उसी गंगा की युगीन औद्योगिक सभ्यता ने ऐसी दुर्गति कर दी है कि प्रयाग के इस महाकुम्भ के अवसर पर डाक्टरों ने तीर्थ—यात्रियों को उसका पानी पीने से रोक दिया है। यात्रियों के लिए पेय जल की अलग से विशेष व्यवस्था की गई है, और उनसे ध्वनि—विस्तारक यंत्रों द्वारा अनुरोध किया जा रहा है कि नदी का पानी न पीएं। कुम्भ पर जाने वाले यात्रियों को हैजे का टीका लगाया जाता है, और गंगा का जल पीने से उन्हें इसीलिए रोका जाता है कि डॉक्टरों

की दृष्टि से हैजे का सबसे बड़ा संवाहक नदी का जल है। वैज्ञानिकों ने वाराणसी के ऊपर दशाश्वमेध घाट को छूकर बहने वाले गंगा के जल को अपेय और रोगकारक माना है। जब काशीतल जलवाहिनी गंगा का यह हाल है, तब कलकत्ता की हुगली का तो कहना ही क्या!

गंगा को पवित्र मानने की भावना अकारण नहीं है। जिस प्रकार की चट्टानों, रेतीले धरातल और अन्य खनिज द्रव्यों से समन्वित भूखण्ड पर से होकर वह बहती है, उसके कारण उसके जल में स्वतः शुद्ध हो जाने की और अपने अन्दर डाली गई मलिनता को शुद्ध कर देने की अद्भुत क्षमता है। पर उस क्षमता की भी सीमा है। और अब ऋषिकेश से लेकर हावड़ा तक इस पतित-पावनी नदी के किनारे जितने शहर-कस्बे-गांव बसे हैं, उनके गन्दे नाले तो उसमें गिरते ही हैं, लगातार बढ़ते औद्योगिक कारखानों के उच्छिष्ट रासायनिक द्रव्य भी उसी में गिराये जाते हैं। अब इस गन्दगी की मात्रा इतनी बढ़ गई है, कि वह गंगा की शोधन-क्षमता पर हावी हो गई है।

जल-प्रदूषण की यह समस्या केवल भारत, या गंगा, या किसी एक नदी के साथ नहीं है, बल्कि समस्त संसार के समस्त जल-साधनों के साथ है। यह सब औद्योगिक सभ्यता के विस्तार का चमत्कार है। कुछ अर्से पहले बरौनी के कारखाने से निकले अवशिष्ट रासायनिक द्रव्यों की मिलावट से गंगा-जल इतना दूषित हो गया था कि बिहार की राजधानी पटना तथा अन्य गंगा-तटवर्ती बड़े शहरों के लिए पेय-जल की समस्या हो गई थी। गोवा में एक कागज के कारखाने का लाइसेंस सरकार को इसलिए समाप्त करना पड़ा था कि उसके उच्छेष्ट से समुद्र की मछलियां मरने लगी थीं।

मलेरिया के नियंत्रण के लिए डी.डी.टी.का और अन्य रोगों के निवारण के लिए अन्य कृमि-नाशकों का जिस विशाल पैमाने पर प्रयोग किया जाता है, वह सब नदी-नालों के रास्ते समुद्र में ही तो पहुंचता है। इन कृमिनाशक तत्त्वों से समुद्र का जीव-जगत् प्रभावित होता है। अमरीका के तैंतीस राज्यों में इसीलिए मछली पकड़ने पर प्रतिबंध लगा दिया गया है, क्योंकि दूषित मछलियों के आहार से मानव-समुदाय का जीवन संकट में पड़ सकता है। कुछ राज्यों ने इसीलिए डीडीटी के प्रयोग पर भी प्रतिबंध लगा दिया है। इस समय संसार भर में प्रतिवर्ष लगभग दो लाख मीट्रिक टन डी.डी.टी.इस्तेमाल होता है। इसी प्रकार लगभग साठ लाख मीट्रिक टन पेट्रोलियम प्रतिवर्ष समुद्रों में पहुंच जाता है। इसके अलावा जल को दूषित करने वाले और कितने ही रासायनिक द्रव्य हैं, जिनकी संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही चली जाती है। इस जल-प्रदूषण की विशालता और सांघातिकता को देख कर मनुष्य-जाति के भविष्य के बारे में सोच-सोचकर हृदय प्रकम्पित हो जाता है।

अमरकोश में जल का एक पर्यायवाची शब्द 'जीवन' भी है। जल सचमुच ही जीवन है, यह जीवन के लिये वास्तव में अमृत है। पर इस अमृत—कुम्भ में भी मानव ने स्वयं अपनी नासमझी से इतना विष घोल दिया है कि यह अमृत—कुम्भ विष—कुम्भ बनता जा रहा है।

अमृत—कुम्भ को अमृत—कुम्भ बनाये रखने के लिए मानव जाति को पुनः देवासुर संग्राम करना पड़ेगा।

(लेखक की पूर्व प्रकाशित 'ओ! मेरे राजहंस' नामक पुस्तक से उद्धृत अब से १२ वर्ष पूर्व पिछले कुम्भ के अवसर पर, यह लेख लिखा गया था। जल—प्रदूषण की समस्या इतनी गम्भीर है कि अब भी हमें इस लेख में कुछ परिवर्तनीय प्रतीत नहीं हुआ। पिछले कुम्भ से इस कुम्भ में बस इतना ही अन्तर है कि अब गंगाजल अपेय घोषित नहीं किया गया। इस बार हैजे का टीका भी नहीं है।—सं०)

१२ फरवरी १९८६



"आज हम पर्यावरण प्रदूषण की बात करते हैं, पर मानसिक प्रदूषण की बात भूल जाते हैं। मैं भारत के इतिहास की गंगा के प्रदूषण की चर्चा करना चाहता हूँ। निहित स्वार्थी लोगों ने हमारे इतिहास की गंगा को इस सीमा तक प्रदूषित कर दिया है और उसी का यह परिणाम है कि सारी वर्तमान पीढ़ी मानसिक प्रदूषण से पीड़ित है। आज देश भर में सब स्कूलों में (आर्यसमाजी स्कूलों में भी) इसी प्रदूषित इतिहास की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। हमारे अंग्रेज़ आकाओं ने हमें यह पढ़ाया कि आर्य लोग इस देश में बाहर से आए, और उन्होंने यहां के मूल निवासियों को हटाकर जंगलों में खदेड़ दिया।" आर्यों के बाहर से इस देश में आने का आज तक कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। सत्य यह है कि आर्य ही इस देश के मूल निवासी हैं। इस देश का नाम आर्यावर्त, पर्वतों का नाम हिमालय और विन्ध्याचल, नदियों के नाम गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु आदि ये सब नाम आर्यों के ही दिए हुए हैं।—

—'चयनिका', पृष्ठ १६७-१६८

सुभाषित

रत्नैर्महाहैस्तुतुपुर्न देवा न भेजिरे भीम-विषेण भीतिम्।

सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीराः।।

देवता लोग जब समुद्र मन्थन करने लगे तो उसमें से निकलने वाले रत्नों से वे सन्तुष्ट नहीं हुए, न ही भयंकर इलाहल विष के निकलने पर वे भयभीत हुए। जब तक अमृत प्राप्त नहीं हुआ, तब तक उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा। धैर्यशाली लोग अपना निश्चित प्रयोजन पूरा किए बिना विराम नहीं लेते।

दिवाली नहीं दिवाला

व्यापारी लोग दीपावली के पर्व पर अपना नया बहीखाता शुरू करते हैं, और अपनी वित्तीय व्यवस्था का तलपट निकाल कर आगामी वर्ष के लिए समृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए नया उत्साह संचित करते हैं। देश के ऋतु-चक्र के हिसाब से गत वर्ष का लेखा-जोखा करके आगामी वर्ष का आय-व्ययक (बजट) तैयार करने का यही अवसर उचित भी था, क्योंकि किसानों की मेहनत के फलस्वरूप अनाजों की विभिन्न ऋतुओं में होने वाली फसलें भी तब तक बाजार में आ चुकी होती थीं। पर अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् हमने जिस तरह अन्य क्षेत्रों में उनकी नकल की है, उसी तरह इस क्षेत्र में भी अब हमारा वित्तीय वर्ष मार्च से शुरू होता है, जो इस देश की दृष्टि से सर्वथा अस्वाभाविक है। दीपावली एक तरह से देश की अर्थ व्यवस्था के आत्मनिरीक्षण का पर्व था।

पर आज देश की अर्थव्यवस्था ही नहीं, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था भी जिस तरह विकलांग स्थिति में पहुंच गई है, हरेक राष्ट्रवासी के लिए चिन्ता का विषय है। इसलिए अपने घर-आंगन में दीपों की अजस्र पंक्ति जगमग करने से पहले अपने मन का दीपक जलाना होगा, और उसके आलोक में आत्मनिरीक्षण करना होगा। 'आत्मदीपो भव'—अपनी आत्मा को ही दीपक बनाकर उसकी रोशनी में आधुनिक परिस्थितियों का अवलोकन करना होगा, और उनके निवारण का प्रयत्न करना होगा, अन्यथा अपने गर्भ में घोर अन्धकार समेटे दुर्दान्त भविष्य हमारी देहली पर दस्तक दे रहा है।

इस समय यह मत पूछो कि किसने क्या गलती की—इससे परस्पर आरोप-प्रत्यारोप की कभी समाप्त न होने वाली श्रृंखला शुरू हो जाएगी।

यह न पूछो कि किस-किसने क्या-क्या किया।

वरना अपनों के चेहरे उत्तर जाएंगे।।

हां, ये गलतियां करने वाले कोई गैर नहीं, सब अपने ही हैं, अपने ही देश के नेता लोग हैं। पर इस समय वे सब के सब राष्ट्र को भूल कर अपने क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा करने के लिए अन्धे हो गये हैं। सबको जैसे महाभारत का एक ही पात्र आदर्श प्रतीत होता है—और वह है धृतराष्ट्र। ये धृतराष्ट्र के वंशज क्या तो वंशवाद के शिकार हैं, भले ही अब तक वंशवाद को कितनी ही गालियां देते रहे हों, या सत्ता और कुर्सी के मद में अन्धे हो गये हैं। अपनी कुर्सी के आगे उनकी आंखें देखती ही नहीं, वे मायोपिया के शिकार हैं। उनके लिये अपनी कुर्सी राष्ट्र से कहीं अधिक बड़ी है। इसीलिये उन्हें यह घोषणा करते भी शर्म नहीं आती कि चाहे कितनी ही जानें चली जाएं, चाहे कितने ही लड़के और लड़कियां आत्मदाह कर लें, हम अपने निर्णय से टस से मस नहीं होंगे। परिणाम यह है कि आज देश जाति-युद्ध और गृहयुद्ध के कगार तक पहुंच गया है। चारों ओर अराजकता छाई है। न आत्मदाह करने वालों में कमी आई है, न ट्रेनों और बसों को जलाने की घटनाओं में कमी आई है। सब सरकारी कामकाज ठप पड़ा है। आये दिन बन्द, रैली और हड़तालों का बोलबाला है, जैसे राष्ट्र के सामने कोई रचनात्मक काम रह ही नहीं गया। चारों तरफ हिंसात्मक और विध्वंसात्मक कामों का जोर है। “पीत्वा मोहमयी प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्”—मोहमयी प्रमाद की मदिरा पीकर जैसे सारा देश पागल हों उठा है।

पंजाब, कश्मीर और असम में आतंकवाद जिस तरह उग्र से उग्रतर होता जा रहा है और नित्यप्रति आतंकवादियों की गोलियों के शिकार हुए लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, देश की वर्तमान अराजक स्थिति के समक्ष वह समस्त आतंकवादी भी फीका पड़ गया है। सरकार से पंजाब या कश्मीर या असम में बढ़ती आतंकवादी और राष्ट्र-विघटनकारी प्रवृत्ति के दमन के लिए तो कोई उपाय हुआ नहीं, मंहगाई को घटाने का भी कोई उपाय नहीं हुआ, न ही जमाखोरी और नफ़ाखोरी को रोकने का कोई उपाय हुआ। साथ ही मण्डल आयोग की रिपोर्ट को लागू करने की जिद ने बिल्कुल अराजकता की स्थिति पैदा कर दी। आरक्षण के समर्थक और विरोधी खेमों में सारा देश बंट गया, और ये दोनों खेमे एक दूसरे के विरुद्ध खम ठोक कर खड़े हो गये। हरेक खेमा सोचता है कि मेरे प्रहारों से जिस भारतमाता को चोट पहुंचती है, उससे मेरा कोई वास्ता नहीं। क्या ऐसे कपूर्तों के रहते भारत माता लहू-लुहान होने से बचेगी?

रही—सही कसर राम-जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के विवाद ने पूरी कर दी। यदि मंडल आयोग की रिपोर्ट ने देश के लिए जाति-युद्ध का द्वार खोल दिया,

तो राम-जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के विवाद ने देश को साम्प्रदायिक युद्ध की ओर धकेल दिया। यह ध्यान देने की बात है कि इन दोनों विभीषिकाओं की ओर देश को धकेलने की जिम्मेवारी देश के वर्तमान नेताओं की है, केवल नेताओं की। न्याय की बात या देश-हित की बात उनके दिमाग में नहीं आती। आये भी कैसे, जब दिमाग की एक-एक नस में कुर्सी का विकृत रक्त संचार कर रहा हो।

जिस तरह मंडल आयोग की रिपोर्ट को बिना पढ़े और बिना शान्तचित्त से विचार किये नेताओं ने देश की जनता को बरगला दिया है, उसी तरह तथाकथित बाबरी मस्जिद को बिना देखे एक तूफान खड़ा कर दिया है। वहां मस्जिद है ही कहां? मस्जिद होने का कोई तो सबूत हो? क्या वहां कभी नमाज पढ़ी गई? क्या वहां वजू करने के लिए अलग से कोई व्यवस्था है? क्या उस इमारत के खम्भों या संरचना के किसी भी हिस्से पर मस्जिद होने का चिन्ह है? हां केवल एक सबूत है। वह सबूत है एक शिला-खण्ड जो वहां आज भी लगा है, और जिसमें बाबर के सेनापति बकी ने यह उल्लेख किया है कि अमुक हिजरी संवत् में बाबर के हुक्म से यह इमारत बनाई गई। पर इतिहासकारों का कहना है कि उल्लिखित वर्ष में बाबर अयोध्या गया ही नहीं, इसलिए उसके हुक्म से मस्जिद बनाने की बात भी नहीं बनती। जो कुछ तोड़-फोड़ करके इमारत का यह ढांचा खड़ा किया गया है, वह केवल बकी की अपनी ही करामात है, और उसने अपनी इस कृति को महानता देने के लिए अपने मालिक का उल्लेख कर दिया है। इसलिए इस समस्या का एक सरल समाधान यह हो सकता है कि यह शिलालेख वहां से हटा कर फैजाबाद में रह रहे बकी के वंशजों को सधन्यवाद सौंप दिया जाये। वैसे भी बाबर जैसे हमलावर की एक यादगार को सुरक्षित रखना क्या किसी स्वाभिमानी राष्ट्र को शोभा देगा?

क्या हमारे दिमाग का दिवालियापन कभी हमें राष्ट्र-हित की दृष्टि से सोचने को प्रेरित करेगा? दिवाली के पावन पर्व पर हरेक राष्ट्रवासी को यही प्रश्न अपने आपसे पूछना चाहिए।

२१ अक्टूबर १९९०



“अहंकार का नाम नहीं, सभी की यथासम्भव सहायता करने को सदैव तत्पर, और अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने को सदा उद्यत — ऐसे थे क्षितीश जी। वे मनसा, वाचा, कर्मणा — सच्चे अर्थों में गांधीवादी थे। उनकी खादीधारी कृश-काया के भीतर एक दृढ़-संकल्पी व्यक्तित्व छिपा रहता था, जो जाग उठता, तो अवरोधों की परवाह किये बिना अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर, उसे प्राप्त करके ही रहता था।

-डॉ० कुमुद सक्सेना, पत्रकार
बी-६७, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली

सुभाषित

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः कांचनभाश्रयन्ति॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम, सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव, त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥

— भर्तृहरि

जिस मनुष्य के पास धन है वही कुलीन है, वही पण्डित है, वही समझदार है, वही गुणों का पारखी है, वही उत्तम वक्ता है, वही सुन्दर और दर्शनीय है। क्यों न हो—सारे गुण कांचन में ही तो बसते हैं।

सारी इन्द्रियां ज्यों की त्यों हैं, नाम-धाम भी वही है, बुद्धि भी वैसी ही पैनी है, बातचीत में कुशलता भी वैसी ही है। परन्तु आश्चर्य है कि उसी व्यक्ति के पास जब धन की गर्मी नहीं रहती, तो सब कुछ क्षण भर में बदल जाता है।

नई चुनौतियां (१)

आम चुनाव के बाद केन्द्र में और अनेक राज्यों में नई सरकारें बनी हैं। सबसे अधिक सीटें कांग्रेस को मिलने के कारण जिन राज्यों में पहले से भाजपा की सरकारें हैं, कांग्रेसियों द्वारा उन्हें बदले जाने की मांग की जा रही है। अच्छा ही हुआ कि नये केन्द्रीय गृहमंत्री श्री शंकरराव चव्हाण ने यह बात स्पष्ट कर दी कि हम प्रतिशोध की भावना से किसी राज्य की सरकार में परिवर्तन नहीं करेंगे। वस्तुतः देश के सामने जो नई चुनौतियां खड़ी हैं, उनकी ओर से ध्यान हटाकर उठा-पटक में ही ध्यान केन्द्रित करने से किसी का भला होने वाला नहीं है। क्योंकि वे चुनौतियां इतनी प्रबल हैं कि जब तक सभी राजनीतिक दल परस्पर सहयोग की भावना से मिलकर उन चुनौतियों का सामना नहीं करेंगे, तब तक उनका हल होना संभव नहीं। इसीलिए हम बार-बार राजनीति के बजाय राष्ट्रनीति का घोष बुलन्द कर रहे हैं, क्योंकि किसी भी एक दल के द्वारा उनका हल सम्भव नहीं है।

उन समस्याओं को इतना भयंकर रूप देने के लिए पिछली सरकारों को दोष दिया जा सकता है। इस आरोप-प्रत्यारोप से भी कुछ बनने वाला नहीं है। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता एकजुट होकर उन चुनौतियों से जूझने की है, जिन्होंने देश को इस दर्दनाक स्थिति में पहुंचा दिया है कि जन-साधारण के मन में सिवाय

निराशा के और कुछ है ही नहीं। यही निराशा जब अपने चरम पर पहुँचती है, तो व्यक्ति आत्महत्या पर उतारू हो जाता है। तो क्या राष्ट्र को भी 'हाराकिरी' के लिए प्रेरित किया जाए? पर आत्महत्या तो पाप है। स्वयं वेद का आदेश है—

**असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महन्तो जनाः॥**

— घने अन्धकार से आवृत वे आसुरी लोक हैं जहां आत्महत्या करने वाले मनुष्य मरने के पश्चात् पहुँचते हैं। मरने के पश्चात् भी छुटकारा कहां है? मरण के बाद जब अगला जन्म मिलेगा तो फिर वही घनान्धकार। तो फिर आत्महत्या करो। इस तरह बार—बार जन्म लेते रहोगे और आत्महत्या करते रहोगे। वाह, कैसे बहादुर हैं भारतवासी! जो केवल मरना जानते हैं, जीना नहीं।

नहीं भैया! इतने निराश मत होओ। 'नर हो, न निराश करो मन को।' तुम उन ऋषियों की सन्तान हो जिन्होंने सारे संसार को जीने का मार्ग दिखाया है। हिम्मत करके एक बार खड़े तो हो जाओ। तुम्हारे खड़े होने की देर है — सब निराशा के आसुरी भाव एकदम सिर पर पांव रखकर भागते नजर आरेंगे। राष्ट्र को आज स्वार्थी, दलगत साम्प्रदायिकता से ग्रस्त राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञों की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है संकीर्णता से निकलकर राष्ट्रहित की भावना से अपनी समस्त चेतना को ओत—प्रोत करने वालों की। तुम्हारी क्षुद्र राजनीति ने तुम्हारा आत्मविश्वास छीन लिया है और तुम्हें अपनी नाक के आगे कुछ दीखता नहीं। तुम वंशवाद, परिवारवाद, अल्पसंख्यकवाद, वोटवाद, पार्टीवाद और सत्तावाद की मृग—मरीचिका में फँस गए हो। उससे निकलो और 'इदं राष्ट्राय स्वाहा, इदन्न मम' का मन्त्र जपते हुये अपना सर्वस्व राष्ट्र के लिए समर्पित करने को सन्नद्ध हो जाओ।

इसलिए सत्ता में बैठे राजनेताओ! पहल तुम्हें अपने से करनी होगी। जब तुम में आत्मत्याग की भावना की ज्वलन्त शिखा दिखाई देगी, तो आम जनता तो तुमसे कई गुना अधिक त्याग करने को स्वयं तैयार हो जाएगी। उदाहरण के लिए एक मोटी—सी बात। तुमने केन्द्र में या राज्यों में मंत्रियों की फौज तो खड़ी कर ली, उसके और विस्तार की बात भी करते ही रहते हो, पर केवल उन्हीं की सुख—सुविधाएं जुटाने के लिये राष्ट्रीय धन का कितना अपव्यय होता है, कभी सोचा है? क्या सरकारी कर्मचारी सांसदगण और मंत्रिगण केवल अपने वेतन और भत्ते बढ़ाने के सिवाय और कुछ नहीं जानते! नये मंत्री आए हैं, उन्हें नये आवास मिलेंगे और हरेक मंत्री अपने आवास को अपनी रुचि के अनुसार नये ढंग से सजाने के लिये नया फर्नीचर मंगाएगा — उसी पर कितना पैसा खर्च होगा! इसलिये सबसे

पहला सुझाव तो यह है कि यह नया फर्नीचर मंगाने का सिलसिला एकदम बन्द करो। इसी तरह समस्त सरकारी खर्चों में कटौती करो। जब तक राजनेताओं के खर्चों में कटौती नहीं होगी, तब तक जनता से त्याग की आशा करना दुराशा—मात्र है।

आज हम भीख का कटोरा हाथ में लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा—कोष और विश्वविकास बैंक के द्वार पर खड़े हैं। हमें लगता है कि इसके बिना हमारी डूबती आर्थिक नैया पार नहीं होगी। पर उनकी शर्तें भी तो हमें माननी पड़ेंगी। उसके बिना ऋण मिलने वाला कहां है? यह सारा ऋण पिछले कर्जों का ब्याज चुकाने में ही तो पूरा नहीं हो जाएगा! आखिर हमें अपनी साख बचा के रखनी है। इसी साख की खातिर तो हमने सोना गिरवी रखा है, कि कहीं कुर्की का नोटिस न आ जाए! अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा—कोष से मिले पैसे का भी हमने सदुपयोग नहीं किया और केवल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से सहयोग के नाम पर उनसे विलासिता और उपभोक्ता सामग्री का ही आयात करते रहे। तो देश के विकास कार्यों के लिये लोगों को रोजगार देने के निमित्त नये उद्योग—धन्धों के विस्तार के लिये पैसा कहां बचेगा?

हम अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा—कोष से ऋण लेने का विरोध नहीं करते, क्योंकि इस समय देश को दिवालियेपन से बचाने के लिए और कोई रास्ता नजर नहीं आता। पर सब कुछ इस बात पर निर्भर होगा कि उस पैसे का उपयोग कैसे होता है? क्या उनकी शर्तें मान कर हम अपने रुपये का अवमूल्यन करेंगे? और एक डालर के बदले २७ रु० और एक पौंड के बदले ५० रु० देने पर रजामन्द होंगे? इसका परिणाम क्या होगा? कितनी मुद्रा—स्फीति बढ़ेगी और मंहगाई किस छोर तक पहुंच जायेगी — इसका हिसाब लगाया है? मंहगाई की मार से जनता वैसे ही त्राहि—त्राहि कर रही है। इका ने चुनावी घोषणा—पत्र में यह भी वायदा किया था कि हम १०० दिन में मंहगाई कम कर देंगे। पर अब हमारे नए वित्तमंत्री कह रहे हैं कि निकट भविष्य में ऐसा सम्भव नहीं है। वित्तमंत्री तो अपनी ओर से ठीक ही कह रहे हैं। जो चीज व्यावहारिक नहीं उसका वायदा केवल चुनावी स्टंट बनकर रह जायेगा।

ऊपर हमने सरकारी खर्चों में कटौती की बात कही है। जितने सरकारी उद्योग हैं, कहने को वे सार्वजनिक उद्योग (पब्लिक इंटरप्राइजेज़) भले ही कहलायें, पर उनका जनता से कोई वास्ता नहीं होता। वे ऐसे सफेद हाथी हैं कि उन पर अन्धाधुन्ध खर्च तो होता है, पर वे घाटे में ही चलते हैं। हर वर्ष उनसे करीब तीन हजार करोड़ रुपये का घाटा होता है। फिर राजनीतिक कारणों से विभिन्न उद्योगपतियों को निर्यात के लिए सहायता के नाम पर जो अनुदान दिये जाते हैं, उन पर बारह हजार करोड़ रुपये खर्च होते हैं। आप इस पन्द्रह हजार

करोड़ रु० के खर्च को ही घटा लीजिए, तो कितनी बचत हो सकती है। जब तक अनुत्पादक व्ययों को नहीं रोकेंगे, तब तक उत्पादक कार्यों के लिए धन कहां से आएगा?

क्या कहा कि हम समाजवाद के लिए प्रतिबद्ध हैं, इसलिए सरकारी उद्योगों को निजी हाथों में नहीं दे सकते हैं। तो हुजूर, इतना और याद कर लीजिए कि जब रूस और चीन जैसे कट्टर कम्युनिस्ट देश भी अपने सिद्धांतों के कारण हुई अपने देश की दुर्गति से बचने के लिए अपना रास्ता बदल रहे हैं, तो आप भी अपने थोथे सिद्धान्तों की खातिर देश की बलि मत दीजिए, भले ही देश की खातिर राजनीतिक सिद्धान्त की बलि देनी पड़े। देश को प्रमुख मानिए, राजनीतिकवाद को नहीं।

७ जुलाई १९६१



“वे एक धारा बन चुके हैं। उस धारा में अनेक लोग बहे हैं और बहे जा रहे हैं। उनके व्यक्तित्व की छाप न पड़े, एक बार भी उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उन्हें भूल जाए, उनसे मार्गदर्शन पाने वाला उनका आभासी न हो, उनके तर्क-पूर्ण विचार सुनने वाला अपनी मान्यताएं बदलने को बाध्य न हो, या उनकी विद्वत्ता का कायल न हो, यह हो नहीं सकता। वे प्रकृति से उदार हैं और सत्य के पुजारी हैं। उन्होंने अपना स्नेह दोनों हाथों से लुटाया है।”...

“उनमें अपूर्व देशभक्ति, जनता के प्रति दायित्व-बोध एवं सहानुभूति, सदा देश के उज्ज्वल भविष्य में आस्था; राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक समस्याओं की गहरी समझ, प्रभावशाली भाषा एवं लेखन-शैली, छोटी से छोटी घटना पर भी उसके फलितार्थों का चिन्तन करना, और सब से ऊपर पत्रकार-धर्म के निर्वाह के लिए उसे पाठकों तक पहुंचाने की क्षमता प्रचुर परिमाण में है। निर्भीकता पत्रकार का सबसे बड़ा गुण है, जो उनमें कूट-कूट कर भरा है। असल में प्रामाणिक लेखन उनकी विशेषता रही है।”

-सरलकुमार

(सह सम्पादक, दैनिक 'हिन्दुस्तान')

सी-२६, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली

सुभाषित

दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजाः संरक्षति।
दण्डः सम्पदा योजयति, दण्डाभावे मन्त्रिवर्गाभावः।
दण्डनीत्यामायत्तमात्मरक्षणम्।
दण्डपारुष्यात् सर्वजनद्वेषो भवति।

— कौटिलीय अर्थशास्त्र

जो शासक दण्ड का प्रयोग करता है, वही प्रजा की रक्षा कर सकता है। दण्ड से राज्य के ऐश्वर्य की रक्षा होती है। यदि समुचित दण्ड का प्रयोग न किया जाए तो अच्छे परामर्शदाता मंत्री नहीं मिलते। शासन-व्यवस्था की रक्षा के लिए दण्डनीति आवश्यक है। किन्तु यह ध्यान रहे कि दण्ड का प्रयोग कठोरता से किया तो सब लोग द्वेष करने लगते हैं।

नई चुनौतियां (२)

जिस बात का अन्देश था वही हो गई। तीन दिन में तीन-बार रुपये का अवमूल्यन! हर बार हमारे वित्तमंत्री महोदय कहते रहे कि बस, और अवमूल्यन नहीं होगा, फिर एक दिन बाद और अवमूल्यन होता रहा। हम तो समझते थे कि वित्तमंत्री मामलों के विशेषज्ञ मात्र हैं, वे राजनीतिज्ञों के तौर-तरीके क्या जानें? क्योंकि राजनीतिज्ञ तो जो कुछ कहते हैं, उससे उलटा करने के लिए विख्यात हैं। इसलिए आम जनता की दृष्टि में उनकी विश्वसनीयता चली जाती है। जब तक वे कुर्सी पर रहते हैं तब तक सब, उनके अफसर भी और कर्मचारी भी, उनकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं, परन्तु जिस दिन कुर्सी नीचे से खिसक जाती है, तब वे कहीं के नहीं रहते—न तीन में न तेरह में। इसीलिए उनके अवचेतन मन में भी कुर्सी ऐसी छाई रहती है कि उनका शरीर पंचत्व को भले ही प्राप्त हो जाए, किन्तु उनकी आत्मा उसके बाद भी कुर्सी के चारों ओर ही घक्कर लगाती रहती है। आत्मा की अमरता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या चाहिए?

हमारे वित्तमंत्री राजनीतिज्ञों की नमक की खान में पड़कर नमकीन हो जाएं तो क्या आश्चर्य! उन्होंने अपने तेवर से राजनीतिज्ञों को भी मात कर दिया है, भले ही प्रकट रूप से उनकी वाणी में कितना ही आत्मविश्वास झलकता हो। यही कारण है कि वे जब कहते हैं कि हमने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया, केवल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के साथ अपनी मुद्रा का समायोजन किया है, और यह काम रिजर्व बैंक रोटेशन की तरह आये दिन करता रहता है। या इसके अलावा वे जब यह कहते हैं कि

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का हम पर कोई दबाव नहीं है, तो उनकी इन दोनों बातों पर कोई विश्वास नहीं करता। वे यह भी कहते हैं कि इससे हमारा निर्यात बढ़ेगा और आयात घटेगा, अर्थात् विदेशी मुद्रा का संकट हल होगा, तो इस पर कोई कैसे विश्वास कर ले? बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने रुपये के इस अवमूल्यन का समर्थन किया है। वे तो करेंगे ही, क्योंकि राजनीतिज्ञों के साथ मिलकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सहयोग से वे देश की जनता का जिस तरह शोषण करते हैं, और देश को उपभोक्ता-संस्कृति का गुलाम बनाते हैं, उससे वही मार्ग प्रशस्त होता है। राजनीतिज्ञ लोग अपने स्वार्थों के लिए उद्योगपतियों को निर्यात-प्रोत्साहन के नाम पर जो बारह हजार करोड़ रु० की सहायता देते रहे हैं, उसके रहते हुए भी यदि हम विदेशी मुद्रा का संतुलन कायम नहीं कर सके, तो अब सरकार द्वारा नई व्यापार-नीति की घोषणा के अधीन जो यह सहायता-राशि समाप्त कर दी गई है, क्या इससे निर्यात और बढ़ने की आशा व्यावहारिक होगी?

रुपये के इस अवमूल्यन का सीधा अर्थ यह होगा कि अब जो पेट्रोलियम के पदार्थ और उर्वरक आदि हमें मजबूरी में आयात करने पड़ते हैं, उसके लिए अब सवाई कीमत चुकानी पड़ेगी। खाद्य तेलों की महंगाई के निवारण के लिए हमने उत्पादन बढ़ाने की बजाय बाहर से आयात करने पर अधिक बल दिया। उससे हम परावलम्बी ही अधिक बने। सच तो यह है कि शुरू से ही हमारा अर्थतन्त्र देश को परावलम्बन और परमुखापेक्षी बनाने की ओर ही अग्रसर रहा है। अब हम इसके इतने आदी हो गये हैं कि उसके अभाव में लगता है हम बरबाद हो जाएंगे। यह ठीक वैसी ही बात है जैसी स्मैक का सेवन करने का आदी हो जाने पर व्यक्ति स्मैक न मिलने पर मरणासन्न अनुभव करने लगता है। कितनी दयनीय स्थिति है! कांग्रेस ने दावा तो किया था सौ दिन में महंगाई घटाने का, पर अब लोकसभा का अधिवेशन शुरू होने और बाकायदा कुर्सी पर जमने से पहले ही महंगाई बढ़ाने का यह नायाब नुस्खा तैयार कर दिया।

आखिर सोना पांच हजार रुपये तोला हो गया। आप कह सकते हैं कि गरीब आदमी को सोने से क्या लेना-देना? पर सोना महंगाई का मापदण्ड है। फिर गरीब को नून-तेल-लकड़ी से तो वास्ता है ही। इस अवमूल्यन से हरेक व्यक्ति के दैनिक उपभोग की वस्तुओं में भी महंगाई की कैसी मार पड़ रही है, यह हरेक व्यक्ति अनुभव करता है। जिनके पास काली कमाई है, वे भले ही इस महंगाई का दंश अनुभव न करें, पर अपनी मेहनत की कमाई से जीने वाले लोगों के लिए तो अब दो जून की रोटी भी भारी पड़ने लगेगी। महंगाई घटाने का वायदा कितने शानदार ढंग से पूरा किया है नई सरकार ने!

उस आर्थिक चुनौती के समाधान के लिए उठाये गये अवमूल्यन का राग छोड़कर दूसरी चुनौती की बात करें, जिसने सारे देश को परेशान कर रखा है। वह है—आतंकवाद की चुनौती। यह आतंकवाद किस हद तक बढ़ गया इसकी कल्पना न केवल राजीव गांधी की नृशंस हत्या से की जा सकती है, बल्कि सच तो यह है कि अब किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं है। यों आतंकवाद के सहस्र फनों वाले विषधर ने अपने फूटकार से सारे संसार को आतंकित कर रखा है, कोई देश इससे बचा नहीं है, पर भारत में तो यह आवश्यकता से अधिक उग्र हो उठा है। उसमें भी सरकार की गलत नीति ही विशेष कारण रही है। यह आतंकवाद पंजाब में अधिक है, या कश्मीर में, या असम में, या आंध्र प्रदेश में—यह बहस बेकार है, इन सभी स्थानों पर निरन्तर हत्याओं और अपहरणों में वृद्धि ही होती रही है। सरकार बार—बार आतंकवाद से सख्ती से निबटने की बात कहती है, पर वह सख्ती कहीं दिखाई नहीं देती। बल्कि आतंकवादियों के साथ मिलीभगत की बात ही अधिक दिखाई देती है।

श्री चन्द्रशेखर ने जिस तरह पंजाब में चुनाव करवाने को अपनी निजी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और सब परिस्थितियों के प्रतिकूल होते हुए भी वहां चुनाव करवाने की ज़िद पकड़ ली, पुनः जब इस ज़िद को पूरा करने के लिए पंजाब के राज्यपाल ने अपनी ओर से जान लगा दी, तब चुनाव आयोग के अध्यक्ष श्री शेषन ने बिना किसी से सलाह किये मतदान से केवल एक दिन पहले चुनाव तीन महीने के लिए स्थगित कर दिये—यह एक अनहोनी घटना है, जिसका उदाहरण मिलना कठिन होगा। निस्सन्देह शेषन ने नई सरकार के प्रति अपनी जरूरत से ज्यादा वफादारी दिखाने के लिए यह किया, किन्तु इससे आयोग के अध्यक्ष की निष्पक्षता की गरिमा कलुषित हो गई। इसीलिए उन्हें हटाने की मांग में अनुचित कुछ भी नहीं है।

हत्याओं और अपहरणों के अलावा अब एक नया वीभत्स पहलू भी इस आतंकवाद के साथ और जुड़ गया है जिसे कहते—सुनते भी मानवता लज्जित हो उठेगी। पंजाब में आतंकवादी रात के अन्धेरे में किसी का भी दरवाजा खटखटाते हैं—चाहे वह किसी सिख का घर हो या किसी हिन्दू का, और बन्दूक की नोक पर रात भर की शरण मांगते हैं। बिचारे घर वाले लाचार! शरण दें तो मरें, न दें तो मरें। आतंकवादी उसी घर में खाना खाएगा। वहीं विश्राम करेगा और रात को जवान बहू—बेटी के साथ सोयेगा, अपने पाप का बीज उसके गर्भाशय में डालेगा और दिन निकलने से पहले ही वहां से रफूचक्कर हो जाएगा। कैसा धिनौना है आतंकवाद का यह चेहरा! इसका कौन इलाज करेगा?

महाराज भर्तृहरि ने लिखा है—

एके ते पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थ परित्यज्य ये।

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभूतः स्वार्थाविरोधेन ये।

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

पुरुषों में एक तो होते हैं जो निजी स्वार्थ को लात मार कर दिन-रात परोपकार के कार्यों में लगे रहते हैं। दूसरे होते हैं सामान्य मनुष्य जो स्वार्थ को सर्वथा तो नहीं भुला पाते, पर परहित के कार्यों के लिए भी उद्यमशील रहते हैं। तीसरे मनुष्यों में राक्षस के समान वे होते हैं जो निजी स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित करने से बाज नहीं आते। चौथी तरह के मनुष्य वे होते हैं जो बिना किसी प्रयोजन के दूसरों का अहित करने में लगे रहते हैं—उनको क्या नाम दिया जाए—यह हम नहीं जानते।

भर्तृहरि तो इतना ही कह कर रह गए। इसके आगे भी एक श्रेणी है—और वह है इन आतंकवादियों की, जो बिना किसी मतलब के निरीह और निर्दोष लोगों का अहित ही नहीं, बल्कि हत्या करते हैं। उनको बन्दूक और हत्या के सिवाय और कुछ नहीं सूझता। ये सीधे हत्यारे हैं, दस्तुओं से भी गये—गुजरे हैं, जो पाकिस्तान के इशारे पर चन्द टकों की खातिर बेगुनाह लोगों की हत्या करते हैं। ये ऐसे आततायी हैं जिन्हें बन्दूक की गोली के सिवाय और कोई बोली समझ में नहीं आती। इसलिए इनको उचित दण्ड देना राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य है। इनके साथ वार्तालाप या किसी प्रकार की रू-रियायत राष्ट्ररक्षा की दृष्टि से बड़े से बड़ा अपराध गिना जाना चाहिए। यदि नई सरकार ने इतना हौसला नहीं दिखाया तो यह आतंकवाद उसके भविष्य को निगल जाएगा।

१४ जुलाई १९६१



“उनकी प्रतिभा, स्वतन्त्र चिन्तन और आर्यसमाज तथा हिन्दुत्व के प्रति उनकी लगन और निष्ठा ने उन्हें मेरी नजरों में बहुत ऊँचा उठा दिया।... श्री शितीश जी के जीवन और चिन्तन, कथनी और करनी में मेल है।...शितीश जी का जीवन उनके लेखों और पुस्तकों की अपेक्षा अधिक प्रभावी ढंग से बोलता है, और दूसरों को प्रभावित करता है।”

—बलराज मधोक

अध्यक्ष, भारतीय जनसंघ

जे० ३०३, शंकर रोड, राजेन्द्र नगर, दिल्ली

सुभाषित

“यदि जवाहरलाल का बस चलता तो निज़ाम का हैदराबाद भी बिखरा रहता। एकता के सूत्र से अलग—थलग, अस्थिर और फिर बाद में भारत के ‘पेट में’ एक और पाकिस्तान उग पड़ता। यह एक ऐसा राज्य था जो इतना उग्र और भारत—विरोधी था कि उत्तरी भारत को दक्षिण भारत से अलग कर देता। सरदार पटेल की निर्णयात्मक पुलिस कार्रवाई से वह स्थिर हुआ, और पंडित नेहरू वह पहले नेता थे जो हैदराबाद पधारे, वहां के लोगों का भव्य स्वागत ग्रहण किया। उन लोगों ने नेहरू को हैदराबाद का मुक्तिदाता घोषित किया।

यह जवाहरलाल ही थे जिन्होंने शेख अब्दुला के प्रभाव में आकर सरदार पटेल के मंत्रालय से कश्मीर—मामला ले लिया था। उन्होंने यदि ऐसा न किया होता तो कश्मीर ऐसी समस्या कलाई न बनता जैसी वह आज है।

वह भी जवाहरलाल नेहरू ही थे जिन्होंने सरदार पटेल द्वारा सुझाई तिब्बत—नीति का खंडन किया। यदि वह ऐसा न करते तो आज भारत—चीन के बीच वह एक मध्यवर्ती (बफर—स्टेट) क्षेत्र होता। सरदार पटेल ने अपनी पैनी दूर—दृष्टि से उत्तर—पूर्वी सीमा पर छाने वाले खतरों को १९५० में ही भांप लिया था। नेहरू जी द्वारा चलाई जा रही विदेश—नीति के खतरनाक परिणामों का पूर्वानुमान भी उन्हें हो चुका था।

तिब्बत के प्रश्न पर हुई मंत्री—मंडल की बैठक में हम सब को अपनी भूक सहमति नेहरू जी के पक्ष में देनी पड़ी थी। कुछेक ही थे जो उनकी नीति की आलोचना कर रहे थे। उनमें श्री एन. वी. गाडगिल भी थे, जिन्हें नेहरू ने यह कह कर झाड़ लगाई थी कि “तुम्हें पता नहीं, उधर की सीमा पर हिमालय पर्वत है हमारी सुरक्षा के लिए?” मैंने सकुचाते हुए तब कहा था, “परन्तु ७वीं शताब्दी में तिब्बती हिमालय लांच कर कन्नौज तक आ गये थे”।

इस मंत्रीमंडल बैठक के कुछ दिनों बाद सरदार (पटेल) ने, नेहरू जी को तिब्बत—प्रश्न पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पत्र लिखा, ७ नवम्बर १९५० को। पिछले १७ वर्षों के दौरान, जो कुछ सरदार (पटेल) ने उस पत्र में लिखा, उसका एक—एक शब्द सच होकर घट चुका है। अपने पत्र के अन्त में सरदार पटेल ने नेहरू जी से मुलाकात करने की इच्छा व्यक्त की थी, जिसकी नेहरू जी ने आवश्यकता ही नहीं समझी थी।”

— क० मा० मुंशी (‘सरदारस वार्निंग रिजैक्टेड’ अध्याय ६, पृष्ठ १७५)

नई चुनौतियां (३)

हम पिछले अंक में आतंकवाद के भयंकर विषधर की चर्चा कर रहे थे। पंजाब की ही कुछ बात कह पाये थे कि इस स्तम्भ के लिए निर्धारित स्थान समाप्त हो गया, तो बात—बीच में ही छोड़ देनी पड़ी।

इस समय पंजाब और कश्मीर दोनों जगह आतंकवाद अपने उग्रतम रूप में पांव पसार रहा है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब इन दोनों राज्यों में कम से कम एक दर्जन हत्याएं नहीं होतीं। उन हत्याओं में केवल निरीह लोग ही नहीं मारे जाते, आतंकवादी भी मारे जाते हैं, और सुरक्षा-बल के लोग भी मारे जाते हैं। सुरक्षा-बलों पर घात लगा कर हमले करना, और उन को राकेटों और लांचरों का निशाना बनाना अब आतंकवादियों के लिए बच्चों का खेल सा बन गया है। निश्चित ही यह पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षित आतंकवादियों की घाटी में घुसपैठ का परिणाम है। आए दिन पाकिस्तान की ओर से सीमा पार से गोलीबारी होती है, और उसकी आड़ में घुसपैठियों को घाटी में भेजा जाता है। हमारी सेना उसका करारा जवाब भी देती है, फिर भी सीमा के अत्यन्त विस्तृत होने, ऊंची-नीची पहाड़ियों और जंगलों के कारण घुसपैठियों को पूरी तरह रोक पाना सम्भव नहीं रह पाता। सीमा पार करने के इस प्रयत्न में अनेक आतंकवादी मारे जाते हैं। पकड़े जाने पर अनेक आत्म-समर्पण कर देते हैं, फिर भी यह घुसपैठ पूरी तरह रुक नहीं पाती। कहा जाता है कि अब तक कई हजार आतंकवादी घाटी में घुस चुके हैं, और कई हजार पाक-अधिकृत कश्मीर में घुसपैठ के लिए तैयार हैं। यह भी कहा जाता है कि पाकिस्तान ने लगभग बीस हजार लोगों को आधुनिक हथियारों और छापामार लड़ाई का प्रशिक्षण दिया है, जिनमें से आधे कश्मीर में घुस चुके हैं।

कश्मीर सरकार चाहे कुछ भी क्यों न कहती रहे, पर कश्मीर की हालत उससे कहीं ज्यादा खराब है, जितनी अखबारों के माध्यम से पता लगती है। इस समय घाटी में असली शासन इन्हीं आतंकवादियों का है, राज्य सरकार तो केवल बराये-नाम है, क्योंकि हुकम तो आतंकवादियों का चलता है। आतंकवादियों ने आतंक फैलाने के कुछ नये तरीके भी निकाले हैं। वे घात लगाकर सुरक्षा बलों की टुकड़ियों पर बमों से हमला करते हैं, और फिर घनी बस्तियों में आकर छिप जाते हैं। जब सुरक्षा-बल जवाबी कार्रवाई करने लगता है या घर-घर तलाशी लेता है, तो स्वाभाविक है कि नागरिकों का आक्रोश बढ़ेगा। गोलीबारी में कुछ निर्दोष नागरिक मारे भी जा सकते हैं। तब आतंकवादी सुरक्षा-बलों पर ज्यादाती का आरोप लगाते हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ है कि आतंकवादियों ने पूरी बस्ती को स्वयं जानबूझ कर आग लगा दी और नाम लगा दिया सुरक्षा-बलों का। फिर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अखबार-नवीसों को और मानवाधिकार-वादियों को बुलाकर वे दिखाते हैं कि देखो-भारतीय सेना कितना जुल्म कर रही है! और ये मानवाधिकार-वादी बुद्धिजीवी भी उस राग को अलापते हुए बयानबाजी करते रहते हैं। इससे भारत सरकार की स्थिति और भी विषम हो जाती है।

अब इन आतंकवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीय मंच तक अपनी बात पहुंचाने के लिए एक और नया तरीका अपनाया है। वे उन चन्द विदेशी पर्यटकों का, जो भूले-भटके कश्मीर के पर्यटन के निमित्त पहुंचते हैं, अपहरण करते हैं और उन्हें संयुक्त-राष्ट्रीय प्रतिनिधि को ही सौंपने की जिद करते हैं। अभी हाल में कुछ स्वीडिश और इजरायली नागरिकों का अपहरण करके उन्होंने यही खेल खेला है। इससे जहां विदेशों में भारत सरकार की छवि बिगड़ती है, वहां कश्मीर के प्रश्न को अनायास अन्तर्राष्ट्रीय मंच भी मिल जाता है।

आखिरकार कश्मीर सरकार को विदेशी पर्यटकों के आगमन पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा, क्योंकि वह उनके जान-माल की रक्षा करने में अपने को असमर्थ पाती है। इन आतंकवादियों की सफाई देखो कि अगले दिन ही इन्होंने भी विदेशी पर्यटकों के आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया, यह दिखाने के लिए कि कश्मीर में हुक्म सरकार का नहीं, हमारा चलता है।

अब इन आतंकवादियों ने विशिष्ट सरकारी अधिकारियों का अपहरण करके अपने गिरफ्तार-शुदा दुर्दान्त साथियों को छुड़वाने का नया पैतरा अपनाया है। और हमारी सरकार जिस तुष्टीकरण की नीति पर चलती है, उसका परिणाम यह होता है कि आतंकवादी अपने साथियों को अनायास छुड़ा लेते हैं। इससे पुलिस, सुरक्षा-बल और सेना का मनोबल भी गिरता है कि जिन आतंकवादियों को हमने अपनी जान पर खेल कर पकड़ा था यदि वे इसी तरह छोड़े जाने हैं, तो हमें भी अपनी जान जोखिम में डालने की क्या जरूरत है। सच तो यह है कि जनता दल के गृहमंत्री मुहम्मद सईद की बेटी रुबिया के अपहरण के समय सरकार ने जो कमजोरी दिखाई, उससे आतंकवादियों का हौसला कई गुना बढ़ गया, और अब उन्हें अपने साथियों को छुड़वाने का एक नायाब नुस्खा मिल गया।

कश्मीर की देखा-देखी अब असम के उल्फा आतंकवादियों ने भी यही तरीका अपनाया और इकट्ठा ही अनेक वरिष्ठ अधिकारियों और इंजीनियरों का अपहरण कर लिया जिनमें एक रूसी इंजीनियर भी था। हितेश्वर सैकिया की उस नई सरकार को क्या कहें जिसने सत्ता संभालते ही आतंकवादियों से अपहृतों को छोड़ने का किसी तरह का आश्वासन बिना पाये सभी गिरफ्तार उलफा आतंकवादियों को छोड़ने की घोषणा कर दी। क्या यह आतंकवादियों के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं? क्या इसी तरह कानून और व्यवस्था स्थापित होगी? जो शासक दुष्टों को दण्ड देना नहीं जानता, वह प्रजा की रक्षा भी नहीं कर सकता।

२१ जुलाई १९६१

सुभाषित

अधर्मैषधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

अधर्म से, भ्रष्टाचार से धन कमाने वाला पहले खूब बढ़ता है, फिर सर्वत्र उसको भला ही भला दीखता है। तदनन्तर वह अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त करता है। अन्त में समूल नष्ट हो जाता है।

नई चुनौतियां (४)

१५ अगस्त, १९४७ को बंगाल मंत्रीमण्डल के सदस्यों को आशीर्वाद देते हुए महात्मा गांधी ने कहा था : “आज आप लोगों को काटों का ताज पहनना होगा। आप लोग अनवरत सत्य और अहिंसा (प्रेम) के रास्ते पर चलते रहें। आप नम्र और अहिंसक बनें। ब्रिटिश शासन ने निःसन्देह आपको कसौटी पर रखा है, अब आपकी पूरी परीक्षा होगी। प्रभुता मिलने पर सावधान रहना, क्योंकि इसके मिलने पर भ्रष्ट होने की संभावना रहती है। अपने को ऐश्वर्य और आडम्बर के जाल में फंसने से बचाना। याद रखना कि भारत की गरीब ग्रामीण जनता की सेवा के लिए यह पद मिला है। इस काम में परमात्मा आप की सहायता करे।”

“हर मंत्री को अधिक से अधिक भारत में बनी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए। वह हिन्दुस्तानी या क्षेत्रीय भाषाओं में बात करेंगे, और अंग्रेजी भाषा का प्रयोग नहीं करेंगे। यदि सम्भव हो, तो सरकारी आदेश हिन्दुस्तानी भाषा में जारी किये जाएं। इससे लोगों में यह भाषा सीखने की भावना बढ़ेगी और धीरे-धीरे यह राष्ट्रीय भाषा का रूप ले लेगी। उसे जातीय और धार्मिक भेद-भावों से दूर रहना चाहिए। अपने मित्रों या सगे-संबंधियों को विशेष रियायत नहीं देनी चाहिए। उसका व्यक्तिगत जीवन सादा और ऐसा होना चाहिए कि दूसरों के मन में सम्मान की भावना बने। बड़े-बड़े भवनों और मोटरकारों का प्रयोग छोड़ देना चाहिए। वह कार का उपयोग कम से कम करें। उनका मकान बहुमूल्य फर्नीचर आदि से सुसज्जित न हो, यह अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि हमारे करोड़ों लोगों के लिए मामूली चटाई तथा पहनने के लिए पूरे वस्त्र भी उपलब्ध नहीं हैं। आप लोग मदिरापान तथा धूम्रपान जैसे व्यसनो से बचें।”

कितना अच्छा होता कि केन्द्र में या राज्य में किसी भी मंत्रीमंडल के शपथग्रहण के पश्चात् गांधी जी के ये शब्द पढ़कर सुनाये जाते, और हरेक मंत्री के कार्यालय में और निवास स्थान पर ये शब्द लिख कर टांगे जाते! पर आज इन शब्दों को पढ़ने के लिए हमारे पास आंखें और इनको सुनने के लिए हमारे पास कान कहां हैं? हम तो अन्ये और बहरे हो चुके हैं। लगता ही नहीं कि इनमें से एक भी बात पर हमारा ध्यान जाता हो। इसीलिए इसके सर्वथा विपरीत है हमारा आचरण। लगता है कि किसी दकियानूसी बूढ़े की सनकभरी बातें हैं ये—आधुनिक युग से सर्वथा उल्टी। (पैनासौनिक) अतिस्वन-विमानों के और कम्प्यूटरों के युग में बैलगाड़ी में सफर की बात भला कौन सुनने को तैयार होगा!

इसलिए नई सरकार के सामने जिस अगली चुनौती की हम चर्चा करना चाहते हैं, वह है भ्रष्टाचार की। आज भ्रष्टाचार शिष्टाचार बन गया है। कोई काम बिना रिश्वत के होता ही नहीं। पहले कभी सरकारी धन के दुरुपयोग को अमानत में खयानत माना जाता था। पर अब यह माना जाता है कि सरकारी धन तो होता ही है यों ही उड़ाने के लिए। सभी राजनीतिक दल अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाते हैं, और अपने पक्ष वाले व्यक्ति के भ्रष्टाचार और कदाचार को सदाचार सिद्ध करने में लगे रहते हैं। उनका भाव यह होता है कि हम तो एकदम दूध के धुले हैं, और हमारे सिवाय बाकी सब भ्रष्टाचार के पाप-पंक में आपादमस्तक निमग्न हैं। सच देखें तो इस राजनीति के हमाम में सब नंगे हैं। वही बात है—

अन्तः प्रविश्य यज्ज्ञातं तावच्चर्म च दारु च।

अन्दर घुसकर देखो तो इस ढोल के अन्दर सिवाय चमड़े और लकड़ी के कुछ भी नहीं निकला, निरी पोल ही पोल।

आधुनिक युग के पर्याय और फैशन बने इस भ्रष्टाचार की जड़ कहां है? इस पर विचार करने को कोई तैयार नहीं है। स्व० इन्दिरा गांधी गलत कहा करती थीं कि भ्रष्टाचार नीचे से शुरू होता है, पर जयप्रकाशनारायण कहते थे कि नहीं भ्रष्टाचार ऊपर से शुरू होता है। पानी का नियम है कि वह सदा ऊपर से नीचे की ओर बहता है। इसी तरह भ्रष्टाचार का परनाला भी हमेशा ऊपर से ही नीचे गिरता है। नीचे से ऊपर जाने की उसकी ताब कहां! कहने को तो यह तर्क भी दिया जा सकता है कि सेब पेड़ से नीचे ही क्यों गिरता है? ऊपर क्यों नहीं जाता? जैसे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त सेब पर लागू होता है, वैसे ही भ्रष्टाचार पर भी। आखिर आदम और हव्वा के सामने, ईसाइयत की मान्यता के अनुसार वह शानवृक्ष का फल ही तो था जिसे खा लने से वे दोनों पापी बने और उसके बाद सारी मनुष्यजाति अपने इन आदिम बुजुर्गों के आदिम पाप की बदौलत पापी मान ली गई।

यों भी यह चिरन्तन प्रश्न है कि राजा काल का कारण है, या काल राजा का कारण है। परन्तु भीष्म पितामह महाभारत में ही इस प्रश्न का दो-दूक उत्तर दे गये हैं—

कालस्य कारणं राजा, राज्ञो वा कालकारणम्।

इति ते संशयो मा भूत्, राजा कालस्य कारणम्॥

हे राजा युधिष्ठिर! काल का कारण राजा है या राजा का कारण काल है, इस संशय में मत पड़ो, क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है। राजा जो कुछ करता है, प्रजा उसी का अनुकरण करती है।

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवापरो जनः॥

वर्तमान सरकार देश के समक्ष विद्यमान आर्थिक संकट का इतना शोर मचाती है। पर क्या सरकार के किसी रवैये से पता लगता है कि वह अपने व्यवहार से इसे दूर करने के लिए चिन्तित है? आर्थिक संकट का मूल कारण ही यह है कि समस्त सरकारी और सरकार से सम्बद्ध उद्योगों, विभागों, कर्मचारियों, अमलों तथा भद्र-वर्ग पर ही इतना खर्च हो जाता है कि जनता के निमित्त विकास कार्यों पर खर्च करने के लिए कुछ बचता ही नहीं। स्वयं राजीव गांधी कहा करते थे कि हम जनता के लिए यदि एक रुपया निर्धारित करते हैं तो मुश्किल से बीस पैसे जनता के पास पहुँच पाते हैं, अर्थात् ८० पैसे सरकारी ताम-झाम में ही खर्च हो जाते हैं। फिर आये दिन सरकारी कर्मचारियों की और सांसदों की वेतनवृद्धि से कितना अनुत्पादक व्यय बढ़ता है—यह वे लोग क्यों सोचेंगे, जिनके हित उसी के साथ जुड़े हैं।

एक उदाहरण लीजिए। हरियाणा की विधानसभा में कांग्रेस के कुल ५१ विधायक हैं। उनमें से ३३ तो मंत्री बन गये, दो-दो अध्यक्ष और उपाध्यक्ष बन गये, बाकी पाँच और विधायकों को भी विभिन्न कारपोरेशनों और कमेटियों में कहीं न कहीं टांग दिया गया है। बाकी बचे नौ विधायक, उनका भी कहीं न कहीं ऐसी जगह नम्बर आ ही जाएगा, जहां उन्हें जनता को लूटने में आसानी हो। इससे भ्रष्टाचार नहीं बढ़ेगा, तो और क्या होगा?

इसलिए राव साहब, यदि देश को आर्थिक संकट से उबारना चाहते हैं तो शुरुआत सरकारी ताम-झाम से ही करिये। “चैरिटी बिगिन्स एट होम” का उदाहरण पेश करिये। सबसे पहले उन राजनीतिज्ञों से, जिन पर सरकारी आवास, टेलिफोन और बिजली के मद में लाखों रुपया बकाया है, वह वसूल करिये। (चौधरी देवीलाल, जो अब विधायक या सांसद कुछ नहीं हैं, बमुश्किल तमाम राष्ट्रपति-भवन के परिसर में स्थित अपने आवास को तो छोड़ने को तैयार हो गये हैं, पर १४ लाख रुपये का वह सामान छोड़ने को तैयार नहीं हैं, जो उप-प्रधानमंत्री की हैसियत से उन्हें

उपलब्ध कराया गया था। कम से कम दो या तीन साल के लिए मंत्रियों और सांसदों के बंगलों के लिए नये फर्नीचर और नए साजो-सामान पर प्रतिबन्ध लगा दीजिए, जिन पर बेमतलब लाखों रुपया खर्च हो जाता है। असन्तुष्टों को प्रसन्न करने के लिए आये दिन मंत्रीमण्डल का विस्तार मत करिये।

कृपा करके ये कुछ प्रारम्भिक कदम उठाइए, जिससे जनता को कुछ तो विश्वास हो जाये कि आप अपनी ओर से भी कुर्बानी करने को तैयार हैं। तब जनता दस गुनी कुर्बानी करने को स्वयं तैयार होगी। देश का आर्थिक संकट और भ्रष्टाचार घटाने की शुरुआत इसी तरह करनी होगी।

२८ जुलाई १९६१



आपातकाल की तानाशाही

वन के अधिष्ठाता (अर्थात् इन्दिरा गांधी) ने वन में वसन्त के आगमन की (अर्थात् चुनावों की) घोषणा कर दी है। अधिकृत रूप से शीत के आपातकाल की समाप्ति भी घोषित है। और इस बार गणतन्त्र दिवस के लगभग साथ-साथ, बल्कि उससे भी पहले वसन्तपंचमी आ रही है और वातावरण में चारों ओर (जनता की) उत्सुक आंखें देख रही हैं कि वसन्त (स्वतंत्रता) कहाँ है? — क्योंकि कोयल (लेखक-पत्रकार) की आवाज़ पर अभी तक सैन्सर है। बिना कोयल के पंचम स्वर के वसन्त कैसा? सारा वन (देश) कोयल की आवाज़ की प्रतीक्षा में है और वन के पक्षी कह रहे हैं “पिंजरे में बन्द पक्षियों का रुदन (आपातकाल के कारण तानाशाही के भय से डरे हुए लेखकों की इन्दिरा-प्रशंसा) तो तुम बहुत सुन चुके, अब एक आज़ाद पक्षी की भी आवाज़ सुनो।”

—‘ओ मेरे राजहंस!’, पृष्ठ २३-२४

(मार्च १९७७ में दैनिक ‘हिन्दुस्तान’ में छपे एक साहित्यिक अग्रलेख के अंश)

सुभाषित

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः, सामन्तचक्रं च तत्।

पार्श्वे तस्थ च सा विदग्ध-परिषत्, ताश्चन्द्रबिम्बाननाः॥

उद्धृतः स च राजपुत्रनिबहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः।

सर्वं यस्य वशादगात् स्मृति-पथं, कालाय तस्मै नमः ॥

-भर्तृहरि

वे विश्वविजयी प्रतापी सम्राट, उनके वशंवद वे सामन्त नवाब, और उनकी रमणीय राजधानियां, वे दरबारी सरदार और उनके चादुकार, वे चन्द्रमुखी रानियां, वे उद्धत राजकुमार — ये सब जिस कुटिल काल के कारण केवल स्मृतिशेष रह गए हैं, उस काल को नमस्कार है।

कारवां गुज़र गया, गुबार देखते रहे

जब भी कोई कारवां गुज़रता है, तब उसके पीछे उससे उठा गुबार ही देखने को शेष रह जाता है। आंग्ल पद्धति से पले-पुसे लोगों की तरह हम सन् १९६२ को जो १ जनवरी से प्रारम्भ हो चुका है, नया वर्ष तो नहीं कहेंगे, क्योंकि हमारा नया वर्ष तो चैत्र प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है, पर हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सन् १९६१ गुजर गया और सन् १९६२ प्रारम्भ हो गया।

इस एक वर्ष में कितने कारवां गुज़र गये, इसकी गिनती हम नहीं कराना चाहते, परन्तु उन सबका जो गुबार अब बाकी बचा है, उनका गुबार भी समय पाकर उठेगा ही। परन्तु १९६२ के इस गर्भ में भविष्य में और कौन-कौन से कारवां गुज़रने की तैयारी कर रहे हैं, यह अभी कौन कह सकता है? जब भविष्य-वक्ताओं की भविष्य-वाणियां भी गलत सिद्ध होती रहती हैं, तब इस प्रकार की दून की हांकने का फायदा भी क्या है? फिर भी देश-विशेष में दिन-प्रतिदिन होते घटनाचक्र को अपना दिमाग और आंख खुले रखकर जो सूक्ष्मता से निरीक्षण करते रहते हैं, उनके पास एक तीसरी आंख भी स्वयं उपस्थित हो जाती है, जो घटनाओं में निहित रहस्य और उसकी दिशा को उनके सामने स्वतः खोल कर रख देती है।

इस दृष्टि से देखें तो गत वर्ष ने दुनिया के और देशों के चेहरे को बदलने में निर्णायक भूमिका अदा की है। भारत ने यदि सौम्य, सुदर्शन और सहज व्यक्तित्व के धनी, और कुछ नया कर गुज़रने के धुनी, इक्कीसवीं सदी को अपने स्वप्नों के अनुसार ढालने के लिए तेज कदमों से चलने के हामी राजीव गांधी जैसे नेता

को खोया, वहां दुनिया ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सबसे भयानक, ईराक के साथ अमरीका और अन्य बड़ी शक्तियों का सम्मिलित युद्ध देखा। इस युद्ध ने यद्यपि ईराक के सद्दाम हुसैन को पूरी तरह समाप्त तो नहीं किया, पर उसकी कमर अवश्य तोड़ दी। और अमरीका अपनी महाशक्ति के जोश में ही नहीं, प्रत्युत विश्व-राजनीति को अपने पक्ष में मोड़ने की दूरगामी दृष्टि से इस परिणाम पर अवश्य पहुंच गया है कि यदि मुस्लिम कट्टरवाद के प्रतीक सद्दाम हुसैन को अभी नकेल नहीं लगाई, तो यह मुस्लिम कट्टरवाद सारे संसार के लिए भविष्य में भीषण खतरनाक रूप धारण करने वाला है। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि यूरोपीय देशों ने भी इस युद्ध में इसीलिए अमरीका का खुलकर साथ दिया क्योंकि उनके देशों में भी इस मुस्लिम कट्टरवाद ने अपना अलगाववादी धिनौना रूप दिखाना प्रारम्भ कर दिया है।

परन्तु गत वर्ष की सबसे बड़ी त्रासदी कही जाएगी — सोवियत संघ का विघटन, और गोर्बाचोफ़ जैसे व्यक्ति का, जिसने संसार को निरस्त्रीकरण की ओर ले जाने के लिए और शीतयुद्ध की समाप्ति के लिए अपना पूरा अस्तित्व ही दांव पर लगा दिया, विश्वमंच से एकाएक गायब हो जाना। कहते हैं — क्रान्ति अपने पुत्रों को ही खा जाती है। सन् १९१७ में रूस में कम्युनिज्म के नाम पर क्रान्ति हुई। मार्क्स और लेनिन ने संसार को एक नया जीवन-दर्शन दिया, और उससे सारी दुनिया में एक वैचारिक क्रान्ति की हलचल मची। भारत भी उससे अछूता नहीं रहा, और यहां भी कम्युनिज्म का नारा लगाने वाले अपने आपको प्रगतिशील और शेष सबको प्रतिक्रियावादी बताने लगे। पर ७४ साल बाद ही उस कम्युनिज्म की सपनों भरी क्रीड़ास्थली इस तरह बिखर जाएगी, इसकी कौन कल्पना कर सकता था? जिस लेनिन की समाधि के दर्शनों के लिए रोज ही हज़ारों दर्शकों की लम्बी-लम्बी लाइनें लगी रहती थीं, आज उसी लेनिन की मूर्तियां तोड़ी जा रही हैं। इतना ही नहीं, लेनिन के सिद्धान्तों को निर्ममता से लागू करने वाले, सोवियत संघ को संसार की दूसरी महाशक्ति बनाने में सबसे अधिक योग देने वाले, और हिटलर जैसे अजेय नेता को धूल चटाने वाले स्टालिन की, और उसके बाद उनके अनुयायी ब्रेज़नेव की जो दुर्गति हुई, वह कम शिक्षा-प्रद नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कम्युनिज्म के मूल में उसके विनाश के अंकुर भी छिपे हुए थे।

इसी तरह गोर्बाचोफ़ को भी पेरेस्ट्रॉइका (पुनर्निर्माण) और ग्लासनोस्त (खुलापन) की क्रान्ति ही खा गई। परन्तु वे इन दोनों के साथ ही समाजवाद को भी कायम रखना चाहते थे। उन्मुक्त अर्थव्यवस्था और समाजवाद के नाम पर चलने वाली सरकारी तानाशाही, दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। जब एक बार उन्होंने रूसी जनता को उसका चस्का लगा दिया तो सोवियत जनता ने कम्युनिज्म के खोल को सांप की केंचुली की तरह उतार कर फेंक दिया। देखते ही देखते गोर्बाचोफ़

की जगह येल्तिसिन धूमकेतु की तरह उदय हुए, और उत्का की तरह सारा पुराना ढर्रा तहस-नहस कर दिया। अब रूस में सर्वत्र हॉसिया-हथौड़े के बजाय नया तिरंगा झण्डा लहराने लगा। क्रान्ति के पथ पर तेजी से चलने वाले और अपने आदर्शों को अति की सीमा तक पहुंचाने वालों के साथ संसार का इतिहास यही कुछ तो करता है। अब्राहम लिंकन और कैनेडी यदि अपनी तेजी के कारण गोली के शिकार हुए, तो भारत में महात्मा गांधी अपनी अहिंसा की अति के कारण, नेहरू अपनी खयाली दुनिया में रहने के कारण, और लालबहादुर शास्त्री अपनी आवश्यकता से अधिक भलमनसाहत के कारण असमय ही अपने प्राण गंवा बैठे। यह संसार अतिवादियों को सहन करने का आदी नहीं है। सोवियत संघ की इस भयंकरतम त्रासदी का संसार के निकटवर्ती भविष्य पर क्या असर पड़ेगा, यह कहना कठिन है। पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसका बहुत दूरगामी और व्यापक असर पड़ने वाला है।

अब भारत के परिदृश्य को लें, तो गत वर्ष यहां भी कम परिवर्तन नहीं हुए। यहां ४४ वर्ष के बाद कांग्रेस पर से नेहरू वंशवाद का छत्र उतर गया, और उस वंश के अभामण्डल के बिना कांग्रेस अपने पांवों पर खड़ा होना सीख रही है। यद्यपि नरसिंहराव और अन्य कांग्रेसी नेता नेहरू और राजीव के सपनों को ही चरितार्थ करने की बात कहते हैं, यह शायद उनकी अपनी आत्महीनता का और आत्मविश्वास की कमी का द्योतक हो, पर व्यवहार में उन्होंने नेहरू-काल की सब नीतियों को बदल दिया है। नेहरू-काल में जिन नीतियों की चर्चा करने मात्र से लोग 'देशद्रोही' कहलाने लगते थे, आज वे ही नीतियां सरकार की प्रमुख व्यावहारिक नीतियां बन गई हैं, और उन्हीं पर दृढ़ता से अमल किया जा रहा है। हाँ, इन नीतियों को भी अभी भारत के कम्युनिस्ट (भाकपा से अधिक माकपा वाले) और अल्पसंख्यकों तथा मण्डल-कमीशन को ही अपने जीवन का आधार समझने में प्रवीण जनता दल वाले जनता में अपनी साख खो चुके हैं, और वे दोनों बिखराव के तट पर खड़े हैं।

जो घटनाक्रम घट रहा है उसने सभी विचारकों के सामने यह समस्या खड़ी कर दी है कि क्या साम्यवादी व्यवस्था के भंग होने से लोकतांत्रिक प्रक्रिया प्रारम्भ होगी? लोकतंत्र में जितनी मानव-गरिमा सुरक्षित रह सकती है, उतनी किसी और तंत्र में नहीं। परन्तु भारत जैसे संसार के सबसे बड़े लोकतंत्र को जिस तरह भयंकर आतंकवाद ने और राजनीति के अपराधीकरण ने पंगु बना दिया है, उससे लोकतंत्र के भविष्य पर भी प्रश्न-चिन्ह लगना स्वाभाविक है। जिस लोकतंत्र में धार्मिक, क्षेत्रीय और जातीय पहचान को खुली छूट मिली है, वहाँ यह आतंकवाद इन्हीं स्वतंत्रताओं को साम्प्रदायिक आधार देकर अपना असन्तोष उग्र से उग्रतर रूप में प्रकट करना चाहता है, यह कैसी विचित्र बिडम्बना है!

इस आतंकवाद के विस्तार ने देश की समस्त कानून प्रणाली और प्रशासन व्यवस्था को इतना नकारा कर दिया है कि सरकार भी उसे कुचलने में विवशता अनुभव करती है। सच तो यह है कि जो सरकार देश के भले निर्दोष और कानून-व्यवस्था का पालन करने वाले नागरिकों की रक्षा नहीं कर सकती है, और दुष्टों को दण्ड नहीं दे सकती, वह सरकार, सरकार कहलाने के लायक ही नहीं है।

देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए जो कदम उठाये गये हैं, उनका परिणाम भी सुखद होगा, या दुःखद होगा, यह कहना कठिन है। इसके अतिरिक्त राज्यों में परस्पर जिस प्रकार वैर-विरोध बढ़ता जा रहा है, वह भी अत्यन्त चिन्ता का विषय है। उदाहरण के रूप में तमिलनाडु और कर्नाटक के लोगों में कावेरी के पानी को लेकर जो विवाद प्रारम्भ हुआ है, उसने दोनों राज्यों में इतनी कटुता पैदा कर दी है कि भाषावार राज्यों के निर्णय के औचित्य पर ही शंका होती है।

इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर अभी हमारे पास नहीं हैं। हमारे पास क्या, किसी के भी पास नहीं हैं। पर सन् १९६२ को इन प्रश्नों के उत्तर तो ढूँढ़ने ही पड़ेंगे। अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं हमें ही करना पड़ेगा। अन्य देश तो केवल तमाशबीन बनकर देखते रहेंगे। अभी न जाने कितने कारवां और गुजरेंगे, और हमें उनका गुबार देखना पड़ेगा।

१२ जनवरी १९६२



“कुछ लोगों ने आम चुनावों की तुलना महाभारत से की है। इस में यह विवाद का विषय है कि कौन पाण्डव है, और कौन कौरव! कथा के अनुसार कौरवों के जनक (धृतराष्ट्र) अन्धे हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति बताती है—‘धृतं राष्ट्रं येन’—अर्थात् जिस ने राष्ट्र पर कब्जा कर रखा है। इधर साहित्यिक लोग इस शब्द को ‘अन्धायुग’ के प्रतीक के रूप में लेते हैं। (प्रच्छन्न संकेत; है, शासन पर कब्जा बनाये रखने के लिए प्रजातंत्र को स्थगित कर इन्दिरा द्वारा आपातकाल लागू करना)”

...“आम चुनावों का मौसम है। देश काल भविष्य दांव पर लगा है। स्वतंत्र विचार लोकतंत्र का प्राण हैं। सभी दल जनता से सौच समझकर मतदान करने का आग्रह करते हैं। पर बैल की आंखों पर से पट्टी हटाने को कौन तैली तैयार होगा।”

—‘ओ मेरे राजहंस!’, पृष्ठ ४३-४४, ५२

सुभाषित

स्वतन्त्रता—स्वर्ग में पिता है, जगे—जगे देश यह हमारा।
अशंक मन हो, उठा हुआ शिर,
स्वतन्त्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमें
जहां घरों की न भित्तियां ये करें जगत् खण्ड—खण्ड न्यारा।
सदैव ही सत्य के तले से
जहां पिता, शब्द—शब्द निकले,
छुए बढ़ा हाथ पूर्णता को जहां परिश्रम अथक हमारा।
छिपे भटक कर सुबुद्धि—धारा
न रुढ़ियों के दुरन्त मरु में,
विशाल विस्तृत विचार—कृति में लगे जहां चित्त, पा सहारा।
स्वतन्त्रता—स्वर्ग में पिता है, जगे जगे देश यह हमारा।।

— विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

‘चित्त जेथा अभय’ शीर्षक गीत

(युवा कवि (दिवंगत) श्री सुधीन्द्र द्वारा बंगला से अनूदित)

गणराज्य की नई चुनौतियां

वैसे तो मनुष्य के जीवन की तरह राष्ट्र का जीवन भी कभी चुनौतियों से खाली नहीं होता, परन्तु इस वर्ष हमारे इस संसार के सबसे बड़े लोकतन्त्र के लिए कुछ ऐसी कठिन चुनौतियां उपस्थित हुई हैं कि, यदि उनका उचित ढंग से समाधान नहीं हुआ, तो देश के भविष्य के लिए अन्धकार के सिवाय और कुछ नहीं बचेगा। परन्तु हरेक घनघोर घटा के पीछे सूरज की किरणें छिपी होती हैं। जैसे रात्रि के बाद दिन और अमावस्या के बाद पूर्णिमा का आना अनिवार्य है, वैसे ही गहन निराशा के भंवर में घिर कर भी उससे उबारने वाली आशा की नाव भी कहीं न कहीं प्रतीक्षा कर रही होती है। बात वही है — ‘हारिये न हिम्मत, बिसारिये न राम—नाम।’ हिम्मत ही तो मानव का और राष्ट्र का सबसे बड़ा सम्बल होता है।

१९६२ का वर्ष नई चुनौतियों का वर्ष इसलिए भी रहेगा कि अब समूची दुनिया की तस्वीर बदल रही है। इसलिए सभी देशों में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों के समीकरण भी बदलते जा रहे हैं। इस वर्ष की शुरुआत सोवियत संघ जैसी महाशक्ति के विघटन से प्रारम्भ हुई। ‘बन्द मुट्ठी लाख की, खोलो तो खाक की।’

अब जब मुठ्ठी खुल गई है, उसका असली रूप भी सबके सामने आ ही गया है। अब वहां एक सबल केन्द्रीय शक्ति और सत्ता—प्रतिष्ठान के स्थान पर राष्ट्रकुल का सा रूप उभर रहा है। परन्तु उसका भी अन्तिम परिणाम क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। कुछ राजनीतिज्ञ तो यह भविष्यवाणी भी करने लगे हैं कि आपसी कलह और प्रतिद्वन्द्विता के कारण १२ गणराज्यों का यह राष्ट्रकुल अधिक दिन नहीं चल पाएगा; और वहां एक और नई क्रान्ति होगी, जो कम्युनिज्म को जबर्दस्ती थोपने की क्रान्ति से भी कहीं अधिक भयंकर होगी, और तब सोवियत संघ फिर एक प्रबल महाशक्ति के रूप में उभर कर सामने आएगा।

यदि आप समस्त भूमण्डल का मानचित्र देखें तो सोवियत संघ का भूमिगत विस्तार देख कर चकित रह जाएंगे। एशिया और यूरोप के जितने भूखण्ड को उसने घेर रखा है। वह अपने आप में किसी महाद्वीप से कम नहीं है; परन्तु अब इस विशालकाय भूरे भालू का आतंक जिस तरह समाप्त हो गया है, उसके कारण संसार में शीतयुद्ध भी समाप्ति की ओर है। सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका ये दोनों महाशक्तियाँ ही तो संसार में शीतयुद्ध का कारण बनी हुई थीं। इन्हीं दोनों महाशक्तियों के ही कारण संसार के सभी देशों में इन्हीं दोनों के पक्ष—विपक्ष में शीतयुद्ध को प्रोत्साहन मिलता रहता था! अब एक महाशक्ति बिखर गई, तो शीतयुद्ध भी समाप्त, और गुट—निरपेक्ष देशों की सार्थकता भी समाप्त। जब परस्पर—विरोधी गुट ही नहीं रहे तो गुट—निरपेक्ष शब्द का भी क्या अर्थ रह गया?

अब एकमात्र महाशक्ति अमरीका ही तो बच गया। पर अब अमरीका ने जिस तरह सारे संसार को अपने आर्थिक साम्राज्यवाद का वशंवद बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया, उससे यूरोप के मुख्य देश भी चिन्तित हैं। और अब वे अपना अलग साझा आर्थिक तन्त्र खड़ा करने में लग गए हैं, जिससे उनकी अमरीका पर आर्थिक निर्भरता न रहे। कोई आश्चर्य नहीं होगा, यदि यूरोप के इन देशों का समन्वित आर्थिक तन्त्र अमरीकी आर्थिक साम्राज्यवाद के मुकाबले खड़ा होकर उसके महाशक्ति बन पाने के लिए चुनौती बन जाए।

संसार की इस राजनीतिक पृष्ठभूमि को देखते हुए हम अपने देश की ओर देखते हैं, तब यह निश्चित लगता है कि अब नई तकनीक और नये समीकरणों के कारण, पुराने नेहरू—माडल के आधार पर देश को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। हमारा आर्थिक ढांचा जिस तरह चरमरा गया है, उसके कारण यह सम्भव भी नहीं है। इसीलिए भारत की नई सरकार ने उन सब नीतियों को बदल दिया है, जो नेहरू प्रशासन—काल का आधारस्तम्भ मानी जाती थीं। उस युग में जिन बातों को ज़बान से कहने पर लोगों को देशद्रोही की संज्ञा दे दी जाती थी, अब वे ही सब बातें सरकार की नई आर्थिक नीतियों का आधार बन रही हैं। यह बात अलग है कि

नरसिंहराव की सरकार अब भी नेहरू के नाम की माला जपने से बाज नहीं आती। पर यह तो कांग्रेस की मजबूरी है। अब की कांग्रेस में उन चपरगट्टों की कमी नहीं है, जो नेहरू-वंश के आभामण्डल की चकाचौंध से ग्रस्त हैं, और अपने जनाधार के बिना उसी के भरोसे अपनी-अपनी गोटियां लाल करना चाहते हैं। अभी हाल में ही प्रियंका को जिस तरह कांग्रेस की राजनीति में लाने का षड्यंत्र रचा गया, उसने इस तमाशे की पोल खोल दी।

दूसरी बड़ी चुनौती है बढ़ती साम्प्रदायिकता, और राजनीतिक दलों की परले दर्जे की स्वार्थ-परायणता। इसका मूल कारण है राष्ट्र की सही अवधारणा का अभाव, और राष्ट्रीय हितों के बजाय अपने दलीय स्वार्थों को प्राथमिकता देना। इसे हम राजनीतिक साम्प्रदायिकता का नाम दे सकते हैं। धार्मिक साम्प्रदायिकता में भी तो यही बात होती है। लोग अपने-अपने पन्थ और सम्प्रदाय का झंडा लेकर उसे राष्ट्रहित से बड़ा समझने में लगे रहते हैं। अपने राजनीतिक दल को और अपने धार्मिक सम्प्रदाय को राष्ट्र से बढ़कर समझना ही तो साम्प्रदायिकता है। वे यह नहीं समझते कि जिस तरह शरीर के समस्त अंग मिलकर शरीर को चलाते हैं, उसी तरह राजनीतिक दल और धार्मिक सम्प्रदाय मिल कर ही राष्ट्ररूपी शरीर का स्वस्थ संचालन करते हैं। यदि वे सब अंग आपस में लड़ने लग जाएं, तो परिणाम शरीर को ही भुगतना पड़ेगा न! इसीलिए हम कहते हैं कि लोगों में राष्ट्र की सही अवधारणा नहीं है, और न ही उसे जगाने का कहीं प्रयत्न है। यदि एकाध दिशा में कहीं प्रयत्न होता भी है तो अन्य सब दल मिल कर उसी प्रयत्न को 'साम्प्रदायिकता की पराकाष्ठा' बताकर उस प्रयत्न को छिन्न-भिन्न करने के लिए उसके विरुद्ध लंगुडहस्त होकर एक जुट होने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इसमें सबसे बड़ा दोष जहां हम राजनीतिक नेताओं को देते हैं, वहीं उससे अधिक दोष उन तथाकथित बुद्धिजीवियों को देते हैं जो अपनी गलत शिक्षा-दीक्षा के कारण उपजी मानसिक दासता को ही सच्ची राष्ट्रीयता सिद्ध करने में लगे रहते हैं, और भारत के समस्त इतिहास को गलत ढंग से चित्रित करते हैं।

तीसरी चुनौती हम कहेंगे बढ़ती मंहगाई और नई नीतियों के कारण उपजी आर्थिक अराजकता को। आज का सबसे बड़ा उद्योग और व्यवसाय है — लूट का, भ्रष्टाचार का।

रामनाम की लूट है, लूट सके सो लूट।

अन्तकाल पछताएगा, प्राण जाएंगे छूट।।

सरकार को लूटो, जनता को लूटो। अन्तकाल तो जब आएगा, तब आएगा, पर लूट का मौसम तो अभी है। सब राम की माया है, क्योंकि अब माया ही राम पर हावी है — या राम और माया दोनों शब्द जैसे पर्यायवाची ही बन गए हैं। अब हमने

दैनिक आवश्यकताओं की चीजों के दाम जिस तरह बढ़ा दिये हैं, और विश्व-बैंक, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की मर्जी पर जिस तरह देश को गुलामी की जंजीरों में जकड़ने का रास्ता साफ कर दिया है, उसका अन्तिम परिणाम बहुत सुखद होने वाला नहीं है। विदेशी कम्पनियां विकासशील देशों की सहायता, परोपकार की भावना से नहीं, अपने स्वार्थों की पूर्ति और भारत जैसे विशाल देश के विशाल बाजार को हथियाने के लिए करती हैं। आपको किसी उद्योग के लिए नई तकनीक चाहिए, तो उन्हीं से लीजिये — मशीनें भी उनकी, तकनीशियन भी उनके और माल ढोने वाले जहाज़ भी उनके। जो डालर उन्होंने दिये वे फिर लौटकर उन्हीं के पास पहुंच गये। बाजार में उनके माल की खपत बढ़ी, जो प्रचार-माध्यमों और संचार-माध्यमों से बेतहाशा प्रचार करने के कारण उस राशि को कई गुना बनाकर वापिस उनकी जेबें भरने लगीं। ऊपर से एहसान अलग!

हम समझते हैं कि हमने गिरवी रखा सोना छुड़वा लिया या विदेशी मुद्राकोष बढ़ा लिया और इस पर खुशी बघारने लगे, तो यह नहीं सोचा कि यह सब तो हमें मिले कर्ज़ की बदौलत ही है। यह सही है कि हम अब पिछले कर्ज़ को न लौटा सकने के कलंक से बच गये, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हम दिवालिया कहलाने से रह गये। पर किन शर्तों पर — यह भी कभी सोचा है? अन्त में तो हमारा उद्धार अपने ही संसाधनों पर, और अपनी ही विशाल जनशक्ति के भरोसे होगा। औद्योगिक बाजार में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा आवश्यक है। एकाधिकार हमेशा खतरनाक होता है — फिर चाहे वह राज्य का हो या निजी क्षेत्रों का। जनता का शोषण दोनों जगह है। हमें अपने विकास-कार्यों में नौकरशाही के भरोसे न रह कर जनता की भागीदारी को अधिक से अधिक बढ़ाना होगा। जनता की यह भागीदारी कम्प्यूटरों के ज़रिये नहीं बढ़ सकती। परमात्मा ने मनुष्य को एक मुंह देकर पैदा किया है, तो दो हाथ भी उसी को दिये हैं। एक मुंह भरने के लिए विदेशों से अनाज या अन्य उपभोक्ता-सामग्री आयात करने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी दो हाथों को रोजगार देने की आवश्यकता है।

अन्त में, सबसे बड़ी चुनौती है अलगाववाद और आंतकवाद के निरन्तर बढ़ते जाने की। उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है, फिर भी बहुत कुछ कहने को शेष है। अब पंजाब में १६ फरवरी को चुनाव करवाने की सरकारी और चुनाव-आयोग की घोषणा हो चुकी है। उसके परिणाम पर भी बहुत कुछ निर्भर है। पर अभी तो इस बीच में कितने ही 'किन्तु-परन्तु' और 'अगरचे-मगरचे' मौजूद हैं।